इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम एच डी-17
भारत की चिंतन परंपराएँ और दलित साहित्य

बुद्धकालीन साहित्य परंपरा

1

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

— *इन्दिरा गांधी*

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम एच डी - 17
भारत की चिंतन परंपराएँ और दलित साहित्य

खंड

1

बुद्धकालीन साहित्य परंपरा

इकाई 1
अश्वघोष 9

इकाई 2
दिङ्नाग और आर्य नागार्जुन 24

इकाई 3
असंग और वसुबंधु 40

इकाई 4
धर्मकीर्ति 57

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरु नानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर

प्रो. गोपाल राय (सेवानिवृत्त)
सी–3, कावेरी,
इग्नू आवासीय परिसर, मैदान गढ़ी
नई दिल्ली

प्रो. नामवर सिंह (सेवानिवृत्त)
32–ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन (सेवानिवृत्त)
ए–21/71, कुतुब एन्क्लेव
फेज–I, गुड़गांव, हरियाणा

प्रो. प्रेम शंकर (सेवानिवृत्त)
बी–16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर

प्रो. मुजीब रिज़वी (सेवानिवृत्त)
220, जाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद

प्रो. लल्लन राय (सेवानिवृत्त)
3, प्रीत विला, समर हिल, शिमला

स्व. प्रो. शिवकुमार मिश्र
गुजरात

स्व. शिव प्रसाद सिंह
वाराणसी

प्रो. सूरजभान सिंह
आई–127, नारायणा विहार
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण

पाठ लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक
डॉ. संगीता कुमारी विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र जे.एन.यू., नई दिल्ली	1	**प्रो. विमल थोरात** मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
डॉ. धर्मेन्द्र कुमार बोचरे दिल्ली संस्कृत अकादमी करोल बाग, नई दिल्ली	2 और 4	
प्रो. विमल थोरात मानविकी विद्यापीठ इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली	3	

आवरण चित्रकार
सवी सावरकर
नई दिल्ली

सचिवालयी सहयोग
मिथिलेश प्रसाद
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

मुद्रण निर्माण

सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

फरवरी, 2014

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2014

ISBN-978-81-266-6664-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रित–मैसर्स आकाशदीप प्रिंटर्स, 20 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002

पाठ्यक्रम परिचय

भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनेक विचारधाराओं का योगदान रहा है लेकिन यह संस्कृति किसी एक विचारधारा का निर्वाह करते हुए समतावादी, बंधुत्ववादी, न्यायवादी तथा करूणा, अहिंसा और श्रम का सम्मान करनेवाली संस्कृति निर्मित नहीं हो पाई हैं। विचारधाराओं की विविधता का फलक इतना विस्तृत है कि उसे किसी एक विचारधारा के निर्वाह से बनी संस्कृति नहीं कह सकते। बहुतांश आधुनिक शोधकर्त्ताओं ने ऋग्वेद, ब्राह्मण–ग्रन्थ, उपनिषद, धर्मसूत्र, स्मृति और पुराण तक एक मार्ग निर्धारित करके ज्ञान के हर एक क्षेत्र की निर्मिति को वेदों की संस्कृति से जोड़कर देखा। लेकिन यह संकीर्णता न केवल विचार दर्शन को दर्शाती है बल्कि भौगोलिक क्षेत्र को भी सीमित करके देखती है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की पोषक विचारधारा जो यथास्थितिवाद को प्रश्रय देती है, इसी के प्रभाव स्वरूप आधुनिक भारत के शोधकर्ता इसी देश में निर्मित बौद्ध चिंतनधारा के विश्वव्यापी प्रभाव को भुलाकर खामोशी ओढ़ लेते है।

संस्कृति के निर्माण में भाषाएँ, प्रदेश और जातियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। वेदों से निर्मित संस्कृति का प्रभाव संपूर्ण भारत देश पर दिखाई नहीं दिया, वह मात्र आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, मध्यमण्डल प्रदेशों तक सीमित रही। दक्षिण, पर्वतीय प्रदेश, उत्तर पूर्व के प्रदेश इसके प्रभाव क्षेत्र से दूर रहें। भाषा के स्तर पर वैदिक संस्कृति अतीशय कठोर एवं कर्मकांडी रही है। संस्कृत में ग्रंथनिर्मिति करके जनसामान्य को उसके अध्ययन से वंचित रखा गया। यह मिथ्या धारणा फैलाई गई कि यह देववाणी है अतः इसें पढ़ने, जानने और सुनने का अधिकार मात्र तीन वर्णो तक सीमित रखा गया। अर्थात् संस्कृति भाषा के माध्यम से संकीर्णता को बढ़ावा देती रही।

अंग्रेजों की डेढ़ सौ वर्षों की गुलामी से मुक्ति के लिए किए गए स्वतंत्रता आंदोलन, सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलनों की लगातार कोशिशों से देश स्वतंत्र हुआ। देश अंग्रेजों के वर्चस्व से मुक्त तो हुआ लेकिन भारत की चातुवर्ण्य व्यवस्था और जातिव्यवस्था के अभिशाप से सामाजिक, आर्थिक गुलामी झेलता रहा समाज का अछूत वर्ग अभी तक भी जाति के संत्रास से अभिशप्त है। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ ही सामाजिक सांस्कृतिक बराबरी के प्रश्न को भी राष्ट्रीय एजेंडे पर लाने की बात डॉ. भीमराव आंबेडकर ने लगातार उठायी थी। इस प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी के साथ हुई चर्चाएं एवं मतभेदों से सभी परिचित है। उनकी यह मान्यता थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ही जाति के उत्पीड़न से मुक्ति के प्रयास करने होंगे, अन्यथा यह प्रश्न स्वतंत्रता के बाद भी जस का तस ही रहेगा। लेकिन म. गांधी, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल आदि नेताओं ने पहले देश की स्वतंत्रता को महत्व दिया, उनका मानना था, यह अंदरूनी सामाजिक व्यवस्था है जिसे हम बाद में सुलझा लेंगे।

वैदिक परंपरा की अपरिवर्तनशील विचारप्रणाली ईश्वर, धर्म, ग्रंथ और आत्मा को स्वीकारती है। जिसके तहत् चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और जाति व्यवस्था निर्मित की गई और इसे ईश्वर निर्मित और अपरिवर्तनीय करार देकर एक बहुत बड़े तबके को साढ़े तीन हजार वर्षों तक अस्पृश्यता का अभिशाप झेलने के लिए मजबूर किया। उसके उत्पीड़न, शोषण, निष्कासन को पूर्वजन्म के बूरे कर्मो के फल स्वरूप झेलने की विवशता को कठोर कानून बनाकर पोथियों में दर्ज कर दिया। इसे धर्म के कानून का जामा पहनाकर जनसामान्य के मन में इसके प्रति भय पैदा करके इसे तोड़ने या इसके विरोध में विद्रोह की संभावनाओं को ही खत्म कर दिया।

आधुनिक समय में डॉ. भीमराव आंबेडकर ने ही 'जाति भेद का उच्छेद' (एनाहिलेशन ऑफ कास्ट) इस पुस्तक में इस समस्या को जड़ से उखाड़ फेंकने का आह्वान किया था।

संविधान की निर्मिति के समय सामाजिक प्रश्नों को ध्यान में रखकर इनसे जल्द से जल्द मुक्ति मिलने तथा सामाजिक न्याय को ध्यान में रखकर कानूनी प्रावधान किए गए। किसी भी सत्ता में चाहे वह जनतांत्रिक हो अथवा औपनिवेशिक हो शोषण, उत्पीड़न की सदियों पूरानी पुरोहितवादी धार्मिक परम्परा खत्म होना आसान नहीं है। स्वतंत्रता के साढ़े छह दशक होने को है लेकिन हिंदुत्ववाद–ब्राह्म्णवाद द्वारा पोषित जाति की समस्या का स्वरुप उग्र से उग्रतर होता जा रहा है।

इसा पूर्व छठी शताब्दी में आज से 2500 वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध के सामने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से जन्मे जातिवाद, भाषावाद और क्षेत्रवाद जैसे अनेक प्रश्न उपस्थित हुए थे। वैदिक परंपरा की देन अपरिवर्तनवाद, यथास्थितिवाद उस समय भी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक–व्यवस्था पर हावी था और ब्राह्म्णवाद के पक्ष में खड़ा था। एक वर्ण जिसे अपने श्रेष्ठव को बनाए रखकर सभी संसाधनों का मुक्त उपभोग करने की लालसा थी, ने जातिव्यवस्था को ईश्वरनिर्मित और अपरिवर्तनीय घोषित करके दासों की एक जमात तैयार कर दी थी। जिनके लिए पूर्वजन्म के फल के रूप में वर्तमान में प्राप्त अधम स्थिति को बदलने का कोई पर्याय नहीं छोड़ा गया। कालांतर में सतत उत्पीड़न, असहनीय दंड, समाज से बहिष्कार के जघन्य तरीकों द्वारा उन्हें वैदिक परंपरा की क्रूर जातिव्यवस्था को मानने के लिए मजबूर कर दिया गया। उत्पीड़न, शोषण, मृत्युभय से डरा हुआ अछूत–शूद्र वर्ण विद्रोह करने की क्षमता धीरे–धीरे खो चुका था और विषमतापूर्ण सामाजिक संरचना को उसने मान्यता देकर मान लिया कि यही उसका भाग्य है।

इस जघन्य परंपरा और निर्मम विचारधारा के विरोध में गौतम बुद्ध ने एक वैचारिक आंदोलन खड़ा किया जिसकी बुनियाद ही समता, बंधुत्व, और स्वाधीनता के त्री सूत्र पर आधारित थी। भारत भूमि पर लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक बुद्ध के प्रकाश से, बौद्धों के अदम्य उत्साह और विलक्षण प्रतिभा से बौद्ध धर्म आलोकित रहा। जिसने हमें एक उत्कृष्ट जीवन दर्शन और प्रशस्त मानव संस्कृति दी हैं। बाद में उनके अनुयायियों ने संपूर्ण भारतवर्ष और गांधार, पेशावर तक बुद्ध धर्म को अपनाकर उसके उदार–जीवन दर्शन को जीवित रखा।

बुद्ध ने शाश्वतवाद का खण्डन करने के लिए परिवर्तनवाद के विज्ञानवादी सिद्धांत द्वारा आसान तरीके से समझाया कि मनुष्य और सृष्टि हर क्षण बदलती रहती है। पिछले क्षण में वह जिस रूप में थी उसका वह रूप दूसरे क्षण वही नहीं रहेगा। अर्थात् नित्य कुछ भी नहीं वह अनित्य है। वैदिकवाद के शाश्वतवाद का इस प्रकार खण्डन करके बुद्ध ने ईश्वर, धर्म, पूर्वजन्म और ग्रंथों की प्रामाणिकता और अपरिवर्तनियता का विरोध दर्शाया। इसी के आधार पर नियतिवाद का ब्राह्मणवादी सिद्धांत भी मिथ्या आडंबर के रूप में ध्वस्त हो जाता है। पूर्वजन्म सिद्धांत को बुद्ध ने नकारा है, उनके अनुसार जिन पाँच तत्वों के एकत्रित होने से जीव अर्थात् मनुष्य की निर्मिति होना संभव हो जाता है, उनके नष्ट होने पर सभी तत्व (पंचमहाभूत) अपने पूर्व स्त्रोतों में लौट जाते हैं, और शरीर मिट्टी में मिल जाता है। यहाँ मनुष्य के पूर्वजन्म की संभावनाएँ ही खत्म हो जाती है। इसलिए आत्मा के अस्तित्व को भी बुद्ध ने नकारा है। वैदिक परंपरा का निर्वाह करने वाला घोर यथास्थितिवादी विचार आत्मा और पुनर्जन्म के मिथ्या दृष्टि के कारण हजारों वर्षों तक न केवल अस्तित्व में रहा बल्कि शूद्र, अतिशूद्रों को गुलामी की श्रृंखला में जकड़कर रखने में सफल हो पाया। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण, उत्पीड़न, को प्रश्रय देनेवाले इस अमानवीय

सिद्धांत के विरोध में मनुष्य की स्वतंत्रता, सम्मान और अधिकारों को केन्द्र में रखकर बुद्ध ने मानवीय संस्कृति और मूल्यों की स्थापना करके भारत की भूमि पर डेढ़ हजार वर्ष तक बुद्ध धर्म द्वारा मानवता का जतन किया। बौद्ध धर्म ने श्रमण परंपरा को सम्मान देकर मनुष्य की सर्जनशीलता को बढ़ाने का प्रयास किया। प्रस्तुत पाठ्यक्रम में आप बुद्ध चिंतन परम्परा में निर्मित समानता, समन्वय और स्वतंत्रता के तत्वों को बुद्ध अनुयायियों और बौद्ध दार्शनिकों तथा सिद्धों और संतों की परम्परा ने किस प्रकार प्रचारित–प्रसारित किया और मानवतावादी संस्कृति के निर्माण में इसकी कितनी महती भूमिका रही हैं का अध्ययन करेंगे। पाठ्यक्रम के चार खंडों में विभाजित लगभग 13 इकाईयों के अध्ययन के पश्चात् आप बौद्ध दार्शनिकों के अनेक सिद्धांतों को समझ सकेंगे तथा बुद्ध के दर्शन का प्रचार–प्रसार संपूर्ण एशिया खंड तथा रशीया तक फैलने के कारणों को जान सकेंगे।

हिंदी कार्यक्रम के अंतर्गत एम.ए. हिंदी द्वितीय वर्ष (एम.एच.डी.) के ऐच्छिक पाठ्यक्रमों की श्रृंखला में 'दलित साहित्य : विशेष अध्ययन' का मोडयुल छात्रों के लिए उपलब्ध किया जा रहा है। प्रस्तुत मोडयुल में 4–4 क्रेडिट के चार पाठ्यक्रम शामिल है। मोडयुल में शामिल चार पाठ्यक्रम को क्रमवार देखें:

- भारत की चिंतन परम्पराएँ और दलित साहित्य (एम.एच.डी–17)
- दलित साहित्य की अवधारणा और स्वरूप (एम.एच.डी–18)
- हिन्दी दलित साहित्य का विकास (एम.एच.डी–19)
- भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य (एम.एच.डी–20)

मोडयुल का यह प्रथम पाठ्यक्रम 'भारत की चिंतन परम्पराएँ और दलित साहित्य' जिसका कोड है–एम.एच.डी–17 अध्ययन के लिए छात्रों के समक्ष है। प्रस्तुत मोडयुल ऐच्छिक पाठ्यक्रम के रूप में हमारे छात्रों को उपलब्ध करते हुए हमें बहुत खुशी है। छात्र दूसरे वर्ष के पाठ्यक्रमों का चुनाव करते समय इस मोडयुल को समग्ररूप में लेकर अथवा अपनी ईच्छा के अनुसार एक, दो, तीन, चार पाठ्यक्रमों का चयन कर सकते हैं। इन पाठ्यक्रमों के चुनाव से आपको द्वितीय वर्ष के लिए आवश्यक 32 क्रेडिट में से 16 क्रेडिट के पाठ्यक्रमों का चयन करने का अवसर प्राप्त होगा। आपके अवलोकनार्थ समग्र पाठ्यक्रमों की रूपरेखा यहाँ पर दे रहे हैं।

एम.एच.डी. 17 – भारत की चिंतन परंपराएँ और दलित साहित्य

खण्ड–1 बुद्धकालीन साहित्य परंपरा

इकाई–1 अश्वघोष

इकाई–2 दिङ्नाग, नागार्जुन

इकाई–3 असंग, वसुबंधु

इकाई–4 धर्मकीर्ति

खंड–2 लोकायत परंपरा (मानवतावादी साहित्य)

इकाई–5 चार्वाक

इकाई–6 मिलिंद और नागसेन

खंड–3 सिद्ध और नाथ परंपरा

इकाई–7 सरहपा तथा चौरासी सिद्ध

इकाई–8 महानुभाव पंथ

इकाई–9 वीरशैव पंथ

इकाई–10 नाथपंथ

खंड–4 संत साहित्य परंपरा

इकाई–11 कन्नड संत परंपरा

इकाई–12 तेलुगु संत परंपरा

इकाई–13 निर्गुण संत परंपरा

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खंड 1 बुद्धकालीन साहित्य परंपरा

खंड परिचय

प्रस्तुत पाठ्यक्रम के प्रथम खंड का शीर्षक 'बुद्धकालीन साहित्य परंपरा' है। जिसमें कुल चार इकाईयाँ है जो बौद्ध दार्शनिकों के व्यक्तित्व, कृतित्व और उनके द्वारा प्रस्तुत चिंतन की विस्तृत व्याख्या और सिद्धांतों पर आधारित है। इस खंड की चार इकाईयाँ निम्न प्रकार से हैं–

इकाई 1 – अश्वघोष

इकाई 2 – दिङनाग, नागार्जुन

इकाई 3 – असंग और वसुबंधु

इकाई 4 – धर्मकीर्ति

'बुद्धकालीन साहित्य परंपरा' इस खंड की प्रथम इकाई बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष के विचार दर्शन पर केंद्रित है। बुद्ध विचारों का प्रचार–प्रसार करने में अश्वघोष की विशेष भूमिका रही है। अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' की रचना की और बौद्धमतों को मनुष्य जीवन की श्रेष्ठता के साथ जोड़कर वैचारिक, तार्किक और दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। वे बुद्ध के जीवन चरित्र को विशुद्ध संस्कृत में लिखने वाले प्रथम कवि थे। उनकी तार्किक चिंतन पद्धति सामाजिक जीवन के अनुभवों पर आधारित थी। उन्होंने पौराणिक कथानकों की समाज–सापेक्ष व्याख्या करके सम्यक दृष्टि, सम्यक विचार तथा सम्यक प्रयत्न का दर्शन प्रस्तुत किया है। अश्वघोष ने तत्कालीन समय में जो बौद्ध दर्शन और चिंतन प्रस्तुत किया है, वह भारतीय चिंतन परंपरा की अमूल्य धरोहर है।

खंड की दूसरी इकाई दिङ्नाग और आर्य नागार्जुन पर केंद्रित है। दिङ्नाग बौद्ध न्यायशास्त्र के प्रमुख दार्शनिकों में विशेष स्थान रखते हैं। वे पहले थेरवादी भिक्खु थे। उन्होंने 'प्रमाण समुच्चय' ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ में दिङ्नाग ने हिन्दू न्यायशास्त्र द्वारा स्थापित प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों के प्रतिपक्ष में विचार प्रस्तुत किए और वस्तुओं का या विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण पर्याप्त माने हैं। उन्होंने दर्शन के क्षेत्र में बाह्य यथार्थवादी तर्कशास्त्र के विरोध में अनित्यतावादी तर्कशास्त्र की निर्मिति की है, जिसका विकास बाद में उनके शिष्य धर्मकीर्ति ने किया। आर्य नागार्जुन एक श्रेष्ठ बौद्ध आचार्य थे। इन्होंने भारतीय तत्वज्ञान के क्षेत्र में 'माध्यमिक दर्शन' नामक स्वतंत्र संप्रदाय का प्रवर्तन किया। बौद्ध दर्शन को आत्मसात करके 'शून्यवाद' इस सिद्धांत की स्थापना की। इस सिद्धांत में नागार्जुन ने शून्यता का अर्थ बताते हुए कहा है कि सभी वस्तुओं का अस्तित्व अन्य वस्तुओं पर निर्भर है। इसी तरह नागार्जुन ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धांत के द्वारा बुद्ध के दर्शन को तार्किक दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया है।

खंड की तीसरी इकाई असंग और वसुबंधु के विचार दर्शन पर केंद्रित है। असंग ने 'योगाचार भूमि' और 'उत्तरतंत्र' जैसे ग्रंथों की रचना करके बुद्ध दर्शन में प्रस्तावित विज्ञानवाद की व्यावहारिक व्याख्या की है। वसुबंधु ने 'अभिधर्मकोष' इस प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना करके यथास्थितिवाद के विरोध में प्रगतिशील विचारधारा को नया आयाम दिया है।

खंड की चतुर्थ इकाई बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति पर केंद्रित है। इन्होंने बौद्ध दर्शन के विकास में क्षणिकवाद, कार्य–कारणवाद, परमतत्व, प्रमाण समुच्चय, आत्मवाद, विज्ञानवाद तथा प्रत्यक्ष प्रमाण आदि की नई तार्किक और प्रगतिशील व्याख्या प्रस्तुत की है। अतः इस खण्ड की इकाइयों का अध्ययन करके हम भारतीय चिंतन में, विशेषतः बौद्ध दर्शन और सिद्धांतों के विकास में विभिन्न दार्शनिकों के योगदान को समझ सकते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 1 अश्वघोष

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की स्थिति

- 1.2.1 सामाजिक स्थिति
- 1.2.2 आर्थिक स्थिति
- 1.2.3 राजनीतिक स्थिति
- 1.2.4 धार्मिक स्थिति

1.3 बौद्ध धर्म का उदय एवं विकास

1.4 अश्वघोष : जीवनी, स्थितिकाल एवं कृतित्व

- 1.4.1 जीवनी
- 1.4.2 स्थितिकाल
- 1.4.3 कृतित्व

1.5 दार्शनिक कवि अश्वघोष

1.6 अश्वघोष के कृतियों की भाषा-शैली, वस्तु-योजना तथा प्रकृति-चित्रण

1.7 तत्कालीन स्थिति पर अश्वघोष का प्रभाव

1.8 सारांश

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत में सामाजिक स्थिति को रेखांकित कर सकेंगे;
- बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास के संबंध में जानकारी दे सकेंगे;
- अश्वघोष के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं स्थितिकाल के संबंध में परिचय दे सकेंगे;
- अश्वघोष के कृतियों की भाषा-शैली, वस्तु-योजना तथा प्रकृति-चित्रण संबंधी विचारों से अवगत करा सकेंगे; और
- अश्वघोष द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रभाव का विवेचन कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

संसार परिवर्तनशील है। प्रति क्षण उसमें परिवर्तन होता रहता है। सामान्य परिवर्तन प्रकृति ही करती रहती है। देश और काल रूप अधिष्ठान में 'अग्नि, जल एवं वायु' - ये तीनों वस्तु को बदलते रहते हैं, अग्नि गरमी देती है, जल तर्पण करता है - वायु स्फुरण देती है। इससे वस्तु की उत्पत्ति होती है। फिर अग्नि जलाती है, जल सड़ाता है और वायु शोषण करती है। इससे वस्तु का विनाश होता है। इस सामान्य परिवर्तन की अपेक्षा एक विशेष परिवर्तन

भी होता है। वह है -'आचार-विचार का परिवर्तन'। यह परिवर्तन प्रायः मनुष्यों में ही होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा सर्वाधिक चेतन है। इनमें विचार की धारा प्रवाहित होती रहती है। संसार के संबंध में वह विचार करता है। विचार अनेक प्रकार के होते हैं। अनेक प्रश्न उठते हैं। इनका समाधान सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता। ऐसे अवसर पर ही प्रभाव से मनुष्यों के आचार-विचार बौद्ध दार्शनिकों के सोच में आमूल परिवर्तन की संभावनाएं जन्म लेती है।

जब संसार भोग-प्रधान होता है तब सबल मनुष्य दुर्बलों को सताकर अपना सुख-संपादन करने लगते हैं। हिंसा, मिथ्या, छल, कपट और पाखण्ड का साम्राज्य हो जाता है। उस समय दुर्बलों का जीवन भय एवं आतंक से नरक-तुल्य हो जाता है। सबल भी सुखी नहीं रह पाते। उनमें काम-क्रोध की अधिकता से हिंसा की प्रधानता हो जाती है। क्रूरता, तृष्णा तथा अभिमान बढ़ जाते हैं। सहस्त्रों आशा-पाश में बँधकर उन्मार्गी हो जाते हैं। चारों ओर हाहाकर मच जाता है। त्राण पाने के लिए समष्टि अंतःकरण दीन पुकार करने लगता है और तब महान् क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। ऐसे ही संक्रमण काल (ईसा पूर्व छठी शताब्दी) में भगवान बुद्ध एवं बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय भी महान परिवर्तन की अपेक्षा थी। बुद्ध के विचार दर्शन में जन सामान्य के हित को लक्ष्य करके कई नए सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं जिसे आचरण में लाने से जन सामान्य का जीवन सुखमय हो पाएगा। इस परिवर्तन हेतु बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार आवश्यक था और इस प्रचार-प्रसार आंदोलन को जिन्होंने सबसे ज्यादा गति दी वे थे महाकवि अश्वघोष। महाकवि अश्वघोष के ग्रंथों की रचना हेतु है तथागत के जीवन तथा उनके धर्मतत्वों की सरस तथा आडम्बर रहित तर्कनिष्ठ शैली में जनता को समझाने का गंभीर एवं स्तुत्य प्रयास है।

1.2 ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की स्थिति

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में अनेक धार्मिक संप्रदायों का उदय हुआ। अनेक मत तथा दर्शनों के प्रादुर्भाव ने बौद्धिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया। इन आंदोलनों के अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कारण थे, जो तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों में निहित थे। इन धार्मिक संप्रदायों ने पुरातन वैदिक-ब्राह्मण धर्म के अनेक दोषों पर प्रहार किया, अतः इन्हें सुधारवादी आंदोलन भी कहा गया है। जैसा कि रोमिला थापर के शब्दों में, 'छठी शताब्दी' ई. पू. वर्णन का विश्वव्यापी प्रश्नों की शताब्दी के रूप में किया जा सकता है। धार्मिक आस्थाओं और दार्शनिक मान्यताओं से संबद्ध, विभिन्न संप्रदायों का अभ्युदय और अस्तित्व इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यह व्यापक वाद-विवाद और विचार-विमर्श का युग था जिसमें आर्यों के तत्कालीन मूल्यों से सम्बंधित अनेक प्रश्न उठाए गए और हर सिद्धांत को आलोचना की कसौटी पर कसा गया।

1.2.1 सामाजिक स्थिति

ईसा पूर्व छठी शताब्दी का समाज जाति-प्रथा के दोषों से पीड़ित था। समाज चार वर्णों में विभक्त था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके अतिरिक्त 'चाण्डालों ' और 'पुक्कसों ' का उल्लेख भी है। जातियों का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। विवाह, भोजन और स्पर्श के दृढ़ नियमों से विभिन्न जातियों के परस्पर संबंध नियमित होते थे।

इस जाति-प्रथा के कारण निम्न वर्ग तथा शूद्रों की अत्यन्त दीन दशा थी। 'चाण्डाल' सर्वाधिक घृणित जाति मानी जाती थी। वे नगर के बाहर रहते थे और अपनी बोली के कारण शेष जनता से भिन्न थे। 'पुक्कसों ' का काम संभवतः फूल तोड़ने का था। निषाद शिकार और मछलियाँ पकड़ कर अपनी आजीविका चलाते थे। नाइयों का काम बाल काटना था लेकिन उनसे घृणा की जाती थी। दास-प्रथा प्रचलित थी। निम्न जातियों को कोई अधिकार नहीं थे।

क्षत्रियों और ब्राह्मणों को वे सब कर नहीं देने पड़ते थे जो निम्नवर्णी लोग देते थे। ब्राह्मण स्वयं हिन्दुओं के विधिवत चार 'आश्रमों ' का पालन करते थे। यज्ञों और भविष्यवाणी के लिए राजा उनका सहयोग लेते थे। क्षत्रिय शासक वर्ग के प्रतिनिधि थे। वे ही राज्य के विचार के प्रतीक स्वरूप थे। वे रक्त की शुद्धता पर अत्यधिक बल देते थे और ऐसे व्यक्ति को शुद्ध रक्त का समझते थे जिसकी माँ या बाप किसी और जाति का न हो।

परंतु क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मणों से घृणा करने लगे थे। समाज में उन्हें वह स्थान प्राप्त न था जो ब्राह्मणों को प्राप्त था। शारीरिक बल और धन में ब्राह्मणों से श्रेष्ठ होने के बावजूद उन्हें उनके मिथ्या अभिमान को सहन करना पड़ता था। लोहे के प्रयोग के कारण सैनिक साजो-समान तथा अस्त्र-शस्त्र में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। शिल्पकार शस्त्र-निर्माण में नए प्रयोग कर रहे थे। अजातशत्रु की सेना में महाशिलाकंटक तथा रथमूसल नामक नए उपकरण इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। इस कारण शस्त्रधारी क्षत्रिय वर्ग निश्चित ही पहले से अधिक शक्तिशाली हुआ। क्षत्रिय लोग पुरोहितों के विरूद्ध अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक महत्ता के प्रति सचेत हुए। समाज में अव्यवस्था समाप्त करना, कलह का अंत करना तथा कृषि-भूमि की सुरक्षा करना क्षत्रियों, विशेष रुप से क्षत्रिय शासकों का कर्त्तव्य माना जाने लगा, जिसके बदले राजा कर लेने का अधिकारी समझा जाता था। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित कर ब्राह्मणों ने स्वयं को धरती का देवता कहलाने का गौरव अर्जित कर लिया और जनता को लूटने में इनके बीच गजब की समझदारी थी।

परंतु बुद्ध ने जाति-प्रथा के बंधन को स्वीकार नहीं किया। उनके धर्म में कोई भी दीक्षित हो सकता था। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा- "सभी देशों में जाओ और धर्म के संदेश को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाओ और कहो कि इस धर्म में छोटे-बड़े और धनवान तथा निर्धन का कोई प्रश्न नहीं। बौद्ध धर्म सभी जातियों के लिए खुला है। सभी जातियों के लोग इसमें उसी प्रकार आकर मिल सकते हैं जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में आकर मिल जाती हैं।"

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में स्त्रियों का वह स्थान नहीं था, जो उन्हें वैदिक युग में प्राप्त था। शहरों के जन्म और जाति-भेद की उग्रता के कारण पुराने कबीलाई परिवारों के बिखराव के फलस्वरूप उपेक्षित महिलाओं का एक समूह खड़ा हो गया, और उन महिलाओं ने जीवन-निर्वाह के लिए वेश्यावृत्ति को अपना लिया। प्राचीन बौद्ध साहित्य में शहरों में रहने वाली वेश्याओं का वर्णन है। अंबपाली ने वैशाली को प्रसिद्धि प्रदान की। ब्राह्मणवादी विधि-निर्माताओं ने वेश्यावृत्ति की भर्त्सना की। बौधायन और आपस्तंब ने ब्राह्मणों को गणिकाओं अर्थात् वेश्याओं अथवा पतित महिलाओं का भोजन ग्रहण करने से मना किया। इसके विपरीत यह एक वास्तविक घटना है कि एक बार बुद्ध ने अंबपाली का आतिथ्य स्वीकार किया था। बौद्ध संघ में महिलाओं को भी स्थान दिया जाता था और वहाँ वेश्याओं का प्रवेश वर्जित नहीं था। वस्तुतः बुद्ध और उनके अनुयायी वेश्याओं से घृणा नहीं करते थे। आर्थिक आय के लिए वेश्यावृत्ति को अपनाने के कारण स्त्री को पतिता नहीं बल्कि सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति से मजबूर स्त्री के रूप में देखा जाता था। वेश्या को मुक्त नारी माना जाता था और बंधन-मुक्त नारियों के प्रति हिन्दू शास्त्रकारों की दृष्टि बहुत ही संकीर्ण थी। अतः मुक्त नारी को आश्रय प्रदान कर बुद्ध ने नारी की स्वतंत्रता का सम्मान किया।

1.2.2 आर्थिक स्थिति

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में देश की आर्थिक स्थिति मुख्यतः कृषि-प्रधान थी और अधिकतर लोग गाँवों में रहते थे। लौह तकनीक पर आधारित नवीन कृषि-प्रणाली के कारण अधिक उत्पादन अधिशेष प्राप्त होने लगा। यह बड़ी बस्तियों के प्रादुर्भाव तथा उनके अस्तित्व में

अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ। उत्तर-पूर्व भारत की प्राचीन जनजातीय (कबायली) जीवन-प्रणाली में नई उत्पादन-तकनीक ने क्रांतिकारी प्रभाव डाला। इस क्षेत्र के जनजातीय लोग छिट-पुट आबादी वाले ऊँची भूमि पर कुदाल से खेती करते थे और चावल तथा छोटे दाने वाली फसलों का उत्पादन करते थे। ये मांसाहार के लिए ही पशुओं को पालते थे। किंतु नवीन कृषि-प्रणाली में कृषि-कार्य के लिए अधिकाधिक पशुओं की आवश्यकता पड़ने लगी। लोग पशुओं की सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करने लगे। पशु-वध चाहे वैदिक यज्ञों में हो या उत्तर-पूर्व के जनजातीय लोगों में यह अब अनावश्यक रूढ़ि बन गई थी। वैदिक ग्रंथों, विशेष रूप से उपनिषदों में पशु-वध की निंदा की गई है और अहिंसा के उपदेश दिए गए हैं। किंतु ये उपदेश उतने प्रबल नहीं हैं जितने बौद्ध ग्रंथों में मिलते हैं, जिनमें पशुओं को सुख देने वाला (सुखदा) तथा अन्न देने वाला (अन्नदा) कहा गया है।

कृषि के विकास के अतिरिक्त लौह उपकरणों के बढ़ते प्रयोग से अनेक शिल्पों तथा उद्योग-धंधों में भी प्रगति हुई। फलस्वरूप व्यवस्थापनों का पर्याप्त विकास तो हुआ ही, नगरीकरण की युगांतरकारी प्रक्रिया भी उत्तर-पूर्व भारत में प्रारंभ हुई। पालि ग्रंथों से उस समय मध्य गंगा घाटी में विकसित अनेक नगरों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनमें चंपा, राजगृह, वैशाली, वाराणसी, कौशांबी, कुशीनगर, श्रावस्ती तथा पाटलिपुत्र विशेष महत्त्वपूर्ण थे। ईसा पूर्व 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। नगरों में स्वाभाविक रूप से अधिकतर शिल्पकार तथा छोटे-बड़े व्यापारी रहते थे। इस काल में मुद्रा (आहत-मुद्राओं) के प्रचलन के कारण व्यापार में व्यापक विस्तार हुआ। कृषि तथा व्यापार में क्रांतिकारी विकास के कारण कबायली जीवन की परंपरागत मान्यताएँ टूटने लगीं। शासक-वर्ग तथा व्यापारी अत्यधिक धनी होने लगे। निजी संपत्ति की धारणा दृढ़तर होने लगी और उसे सामाजिक मान्यता भी मिली। अब केवल पशु ही संपत्ति की इकाई नहीं रह गए। संपत्ति का संचय व्यापार, उत्पादन अथवा कृषि के रूप में हो सकता था। यह स्वाभाविक ही था कि साथ में निर्धनता भी बढ़ती। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार धन उपार्जन न करने से निर्धनता का प्रादुर्भाव होता है। निर्धनता के कारण चोरी, झूठ, हिंसा, घृणा, क्रूरता आदि उत्पन्न होते हैं। इसके समाधान के लिए बुद्ध का उपदेश था कि किसानों को बीज तथा अन्य सुविधाएँ, व्यापारियों को धन तथा श्रमिकों को उपयुक्त पारिश्रमिक देना चाहिए। दीर्घ निकाय में बुद्ध ने राजा महाविजित की कहानी का जिक्र किया है, जिसको उसके पुरोहित ने सलाह दी थी कि वह किसानों को बीज तथा जो राज्य की सेवा करना चाहते हो, उन्हें पशु और यथोचित औजार दे।

वस्तुतः जिस वैदिक समाज ने उत्पादन में लौह तकनीक के प्रयोग तथा प्रसार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसी समाज की अनेक प्राचीन मान्यताएँ आर्थिक प्रगति के लिए अनुकूल नहीं थी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग को व्यापार में संलग्न होने की मनाही थी, जबकि वैश्य वर्ग सम्मान की दृष्टि से समाज में तीसरी श्रेणी में आता था। समुद्री व्यापार को वैदिक परंपरा के धार्मिक ग्रंथों में निंदित माना गया है, जबकि बौद्ध साहित्य में समुद्री व्यापार के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण दीखता है। यह स्वाभाविक ही था कि वैश्य वर्ग बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देता। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में निर्मित गया तथा साँची के स्तूपों में वर्णित दृश्यों से भी स्पष्ट होता है कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को अपनाकर तथा दान आदि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। स्वयं बुद्ध के समय में ही 'अनाथविण्डिक' तथा 'यथ' नामक श्रेष्ठियों द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट करने से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है।

साथ ही, अहिंसामूलक बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ सिद्धांत रूप में साम्राज्यवादी युद्धों के विपरीत पड़ती थीं। इन युद्धों में व्यापारी वर्ग की ही अधिक हानि होती थी। युद्ध की स्थिति में व्यापारियों की संपत्ति की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती थी। इस काल में समाज के धनाढ्य वर्ग को ऐसे नियम तथा सिद्धांतों की आवश्यकता थी जो व्यक्तिगत संपत्ति की

सुरक्षा तथा संपत्ति के अधिकार को किसी-न-किसी रूप में मान्यता प्रदान करें। बौद्ध धर्म की संपत्ति संग्रह न करने की शिक्षा केवल भिक्षुओं के लिए ही सार्थक हो सकती है जबकि अस्तेय (अर्थात् चोरी न करना) संपत्ति के अधिकार को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन देता है। बौद्ध संघ में ऋणी व्यक्ति का प्रवेश वर्जित करना भी इसमें सहायक सिद्ध होता है। इस काल के ब्राह्मण विधि-निर्माताओं ने सूद तथा ब्याज-प्रथा की निंदा की है, जैसा कि आपस्तम्ब तथा बौधायन धर्म सूत्रों में उल्लिखित है। किंतु ऋण लेने की प्रथा व्यापार के लिए अत्यंत आवश्यक थी। बौद्ध ग्रथों में व्यापार के लिए ऋण लेने की प्रथा की चर्चा है किंतु इसकी निंदा नहीं की गई है। वस्तुओं के मूल्य तथा क्रय-विक्रय की कुशलता के संबंध में व्यापारियों को अनेक उपदेश दिए गए हैं, जो उनकी समृद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं। ब्राह्मण धर्म में भोजन-संबंधी आचार-विचार तथा गणिकाओं के प्रति दृष्टिकोण नागरिक जीवन के क्रिया-कलापों के अनुकूल नहीं था, किंतु बौद्ध धर्म की मान्यताएँ शहरीकरण की प्रक्रिया में सहायक थीं। प्रसिद्ध इतिहासविद् रामशरण शर्मा के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धांत नई आर्थिक व्यवस्था तथा उपज के अधिशेष पर विकसित हो रहे नगरीय जीवन के अनुकूल थे।

1.2.3 राजनीतिक स्थिति

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत में कोई सर्वोच्च सत्ता न थी। भारत कई राज्यों में बँटा हुआ था जिसके राजा और शासक सर्वोच्च शक्ति प्राप्त करने के लिए निरंतर युद्ध करते रहते थे। उस समय राजतंत्रीय और गणतंत्रीय दोनों प्रकार के राज्य विद्यमान थे। बौद्ध भारत नामक अपनी पुस्तक में प्रो. रिड्स डेविड्ज ने 16 'महाजनपदों' या राज्यों के नाम दिए हैं- काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जी, मल्ल, चेदि, वैश (या वत्स), कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य), शूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गान्धार और कम्बोज।

व्यापारी वर्ग के लिए आवश्यक था कि वह अपने राज्य या कबीले की सीमा से बाहर के लोगों से व्यापारिक लाभ के लिए अच्छे संबंध रखे। उसे चोर-लुटेरों से मुफ़्त सुरक्षित व्यापार मार्गों की भी आवश्यकता थी, जिन्हें एक विस्तृत राज्य ही उपलब्ध करा सकता था। किंतु साम्राज्य विस्तार करने वाले चक्रवर्ती धार्मिक धम्म राजा के आदर्श का बुद्ध द्वारा प्रतिपादन आकस्मिक न रहा होगा। अशोक के अतिरिक्त अन्य किसी सम्राट ने इस सिद्धांत को मान्यता नहीं दी, किंतु सैद्धांतिक रूप से ही सही, यह आदर्श व्यापार की प्रगति का पोषक प्रतीत होता है।

1.2.4 धार्मिक स्थिति

ईसा पूर्व छठी शताब्दी की धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति भी बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास में सहायक सिद्ध हुई। वैदिक मंत्र देववाक्य माने जाते थे और उन्हें कोई परिवर्तित नहीं कर सकता था। लोगों में यह विश्वास प्रचलित हो गया था कि किसी यज्ञ या अनुष्ठान में मंत्रोच्चार में थोड़ी त्रुटि होने पर भयंकर परिणाम होंगे और ऐसे सांस्कृतिक परिवेश में यह स्वाभाविक ही है कि पुरोहितों का अत्याधिक महत्व होता। किंतु उनकी धन-लोलुपता समाज के लिए कष्टदायक होने लगी और साथ ही यज्ञ तथा कर्मकांड भी नीरस, जटिल तथा बाहरी आडंबर भर बनकर रह गए। राजसूत्र तथा अश्वमेघ, अनेक जटिल तथा दीर्घकालिक यज्ञों में पशुवध तथा पुरोहितों को दी जाने वाली बहुमूल्य दक्षिणा के कारण धन तथा पशु की हानि हो रही थी। यज्ञ प्रणाली को महिमामंडित करते हुए यह प्रचार किया गया कि यज्ञ तथा कर्मकांड से ही स्वर्ग की प्राप्ति संभव है। यज्ञ स्वर्ग ले जाने वाली नौका के समान है और उसी से भौतिक तथा अत्यधिक लाभ हो सकता है। यहाँ तक कि संपूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति में यज्ञ ही मूल कारण माना जाने लगा जिसे प्रजापति ने संपन्न किया था। यही कारण है कि बुद्ध ने यज्ञ प्रणाली और उसके जटिल कर्मकाण्ड सख्त विरोध

किया जिसने किसानों के जीवन को दूभर बना दिया था। यज्ञ के लिए, बिना मूल्य चुकाए ही किसानों के पशु हथिया लिए जाते थे।

वैदिक यज्ञवाद तथा कर्मप्रधान प्रवृत्ति मार्ग का श्रमण-संस्कृति के निवृत्ति मार्ग (संन्यास मार्ग) से टकराव होना अवश्यंभावी था। ऋषि-मुनि की परंपरा वैदिक संस्कृति में भी थी किन्तु वैदिक धर्म प्रवृत्ति मूलक कर्मवादी तथा गृहस्थ-धर्म-प्रधान) ही बना रहा। वस्तुतः वैदिक धर्म का विरोध करने वाले सभी आचार्य तथा उपदेशक संन्यासमय जीवन के समर्थक थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अनेक संप्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे और इन सभी अतिवादी तथा सामाजिक नैतिकताविहीन चिंतन में कार्य-कारण संबंधी प्रकृति के नियम पर अटूट विश्वास की धारणा कार्य कर रही थी जिससे यह सिद्धांत विकसित हुआ कि प्रकृति में सदैव ही वैज्ञानिक हेतुवाद (कार्य-कारण संबंध) कार्यरत है। इसे न ईश्वर ही परिवर्तित कर सकता है, न कर्मकांड, यज्ञ या पुरोहित आदि। उपनिषद् के परिवेश से उद्भूत यह चिंतनधारा ईसा पूर्व छठी शताब्दी में विकसित होकर नास्तिकवादी सिद्धांतों के लिए प्रेरणास्रोत बन गई थी और इसने अक्रियावादी चिंतन-दर्शन का भी पोषण किया।

वस्तुतः महावीर के समान बुद्ध के सामने भी जितनी बड़ी समस्या वैदिक धर्म की कुरीतियों पर प्रहार करने की थी उतनी का विरोध करने की भी थी। वैदिक धर्म की जीर्ण परंपराओं तथा विभिन्न परिव्राजकों के अव्यवस्था-मूलक उपदेशों के बीच समाज के एक समाधान की आवश्यकता थी।

बौद्ध धर्म में त्याग तथा संन्यास प्रधान जीवन को वैदिक यज्ञवाद के विरुद्ध स्थापित किया गया। बुद्ध ने वेदों को अकाट्य प्रमाण नहीं माना। बौद्ध धर्म में सार्वभौम ईश्वर की कल्पना थी ही नहीं और उनके अनुसार वेद देववाक्य नहीं हो सकता था। बुद्ध की दृष्टि में वेद मंत्र केवल जलविहीन मरूस्थल तथा पंथहीन जंगल था। बुद्ध ने घोषित किया कि वैदिक धर्म हीन विद्या है और किसी भी तथ्य को व्यक्तिगत परीक्षण के बाद ही स्वीकार करना अपेक्षित है, परंपरागत प्रमाण के आधार पर नहीं। वेद को ईश्वरी ज्ञान न मानने का सीधा अर्थ या वैदिक कर्मकांड तथा यज्ञ को भी अस्वीकार करना। बौद्ध ग्रंथों में स्पष्ट कहा गया है कि लोग पशु-वध के कारण पुरोहितों की निंदा करते हैं और शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय उनके मत को अस्वीकार कर रहे हैं। सुत्तनिपात में एक स्थान पर कहा गौतम (बुद्ध), धर्म्म तथा संघ की शरण में आ रहे हैं।

1.3 बौद्ध धर्म का उदय एवं विकास

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में धार्मिक आंदोलन का प्रबलतम रूप बौद्ध धर्म की शिक्षाओं तथा सिद्धांतों में मिलता है, जो पालि 'त्रिपिटक ' में संकलित है। भगवान बुद्ध ने तप, त्याग तथा भोग का यथार्थ भेद बताया, तप और भोग की अपेक्षा मध्यम मार्ग को श्रेष्ठ बताया, सन्मार्ग पर चलकर प्राणिमात्र का हित करना मनुष्य का कर्तव्य बताया तथा 'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय', महामंत्र का उद्घोष किया।

बौद्ध धर्म का मूलाधार 'चार आर्य सत्य ' हैं। इस धर्म के सारे सिद्धांत तथा बाद में विकसित विभिन्न दार्शनिक मत वादों के ये ही आधार हैं। ये चार आर्यसत्य हैं, दुःख, दुःख समुदाय, दुःख-निरोध तथा दुःख निरोध गामिनी-प्रतिपदा (दुःख निवारण मार्ग) अर्थात् अष्टांगिक मार्ग।

बुद्ध के अनुसार जन्म भी दुःख है, जरा (वृद्धावस्था) भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय मिलन भी दुःख है, प्रिय वियोग भी दुःख है। संसार को दुःखमय देखकर ही बुद्ध ने कहा था, 'सब्बं दुःखं ' अर्थात् सभी वस्तुएँ दुःखमय हैं।

'दुःख' समुदय अर्थात् दुःख उत्पन्न होने के अनेक कारण है और सभी कारणों का मूल है तृष्णा (पिपासा अथवा लालसा) तृष्णा से ही आशक्ति तथा राग का उद्भव होता है। रूप, शब्द, गंध, रस तथा मानसिक तर्क-विर्तक आशक्ति के कारण हैं। दुःख-निरोध या दुःख के निवारण के लिए तृष्णा का उच्छेद या उन्मूलन आवश्यक है। संसारं में प्रिय लगने वाली वस्तुओं की तृष्णा या इच्छा को त्यागना ही दुःख निरोध का मार्ग प्रशस्त करता है। अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा है। ये आठ मार्ग हैः (1) सम्यक् दृष्टि अर्थात् सत्य और असत्य तथा सदाचार और दुराचार के विवेक द्वारा चार आर्य सत्यों की सही परख, (2) सम्यक संकल्प अथवा इच्छा तथा हिंसा से रहित संकल्प करना, (3) सम्यक् वाणी जिसका तात्पर्य है सदा सत्य तथा मृदु वाणी का प्रयोग करना, जो धर्मसम्गत हो, (5) सम्यक् आजीव अर्थात् विशुद्ध रूप से सदाचार पालन करके जीवन व्यतीत करना, सम्यक व्यायाम अर्थात् विवेकपूर्ण प्रयत्न, (7) सम्यक् स्मृति अर्थात् अपने कर्मों के प्रति विवेक तथा सावधानी को निरंतर स्मरण रखना, और (8) सम्यक् समाधि अथवा चित्त की समुचित एकाग्रता। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत अधिक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करना अत्यधिक काया-क्लेश में संलग्न होना- दोनों को वर्जित किया है। उन्होंने इस संबंध में मध्यम प्रतिपदा (मार्ग) का उपदेश दिया है।

बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी है जो सृष्टि का कारण ईश्वर को नहीं मानता है। वस्तुतः बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर मानव प्रतिष्ठा पर ही बल दिया है। बौद्ध धर्म में आत्मा की सत्ता अर्थात अनात्मवाद के साथ ही समाप्त हो जाती है।

जिस प्रकार दुःख समुदाय का कारण जन्म है, उसी प्रकार जन्म का कारण भी कर्म-फल उत्पन्न करने वाला अज्ञान रूपी चक्र है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' (या पालि भाषा में पटिच्च सम्मुप्पाद) कहा जाता है, अर्थात् 'प्रतीत्य' (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है)। इस चक्र के 12 क्रम हैं जो एक-दूसरे को उत्पन्न करने के कारण हैं; ये हैं - (1) अविद्या, (2) संस्कार, (3) विज्ञान, (4) नाम-रूप, (5) षडायतन, (6) स्पर्श, (7) वेदना, (8) तृष्णा, (9) उपादन, (10) भव, (11) जाति और (12) जरा-मरण।

बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है निर्वाण-प्राप्ति और अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से व्यक्ति निर्वाण की ओर अग्रसर होता है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए सदाचार तथा नैतिक जीवन पर बुद्ध ने अत्यधिक बल दिया है। दस शीलों का अनुशीलन नैतिक जीवन का आधार है। ये दस शील हैंः (1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय (चोरी न करना), (4) व्यभिचार न करना, (5) मद्य का सेवन न करना, (6) असमय भोजन न करना, (7) सुखप्रद बिस्तर पर न सोना, (8) धन संचय न करना, तथा (10) स्त्रियों का संसर्ग न करना।

बौद्ध धर्म में संघ का भी महत्वपूर्ण स्थान है जो त्रिरत्न का एक अनिवार्य अंग है। आदर्शमय जीवन का केंद्र होने के कारण इसे समाज का आदर प्राप्त हुआ। दूसरे, संघ में प्रव्रज्या लेने वाले भिक्षुओं द्वारा अनवरत धर्म उपदेश में व्यस्त रहने के कारण यह धर्म प्रचार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन हो गया। संघ के कार्य-संपादन के लिए एक निश्चित विधान था, जो गणतांत्रिक आधार पर निर्मित था। संघ में न तो बड़े-छोटे का कोई भेद था और न ही बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी ही नियुक्त किया, वरन, धर्म तथा विनय को ही शास्ता (शासक) माना।

धार्मिक प्रश्नों को लेकर बौद्ध मत में दो प्रसिद्ध संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ (1) हीनयान, तथा (2) महायान। दोनों संप्रदायों में इस बात को लेकर मतभेद है कि निर्वाण का क्या उद्देश्य है? हीनयान के अनुसार निर्वाण इसलिए अभीष्ट है कि उसके द्वारा कोई व्यक्ति

अपने दुःखों का अंत कर सकता है। किंतु महायान के अनुसार निर्वाण का उद्देश्य केवल अपना ही अंत करना नहीं है, वरन पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है जिसकी सहायता से दुःख-ग्रस्त सभी प्राणियों को दुःख से मुक्त किया जा सके।

हीनयान में बौद्ध मत का प्राचीन रूप पाया जाता है। यह जैन-धर्म की भाँति अनीश्वरवादी है। इसमें ईश्वर के बदले 'कम्म ' तथा 'धम्म' को माना जाता है। संसार का परिचालन इसी धम्म के द्वारा होता है। हीनयान का लक्ष्य अर्हत् होना या निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण या निब्बाण में दुःख का अस्तित्व नहीं रहता। हीनयान के अनुसार मनुष्य अपने प्रयत्न से ही निर्वाण या लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा था- 'आत्मदीपो' भव। उनकी यह उक्ति ही हीनयान का मूलमंत्र है। बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त करने के ठीक पहले कहा था-"सावयव पदार्थ या संघ सभी नाशवान् हैं। परिश्रम के द्वारा अपनी मुक्ति का उपाय करना चाहिए।" हीनयान अधिकतर दक्षिण भारत, लंका, बर्मा, स्याम में प्रचलित है। हीनयान की दो शाखाएँ हुई -'वैभाषिक' तथा 'सौत्रान्तिक '।

महायान में बुद्ध के लोक-कल्याण संबंधी उपदेश को ही प्रधान समझा गया है, अन्य उपदेशों को गौण। महायानियों का कहना है कि अपनी मुक्ति ही हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए, वरन् दूसरों की मुक्ति के लिए भी हम लोगों को प्रयत्न करना चाहिए। अतः इनका कहना है कि लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने के कारण महायान महान् है तथा हीनयान में उसका अभाव होने के कारण वह हीन है। महायान मुख्यतः तिब्बत, चीन तथा जापान में प्रचलित है। महायान की भी दो शाखाएँ हुई- 'योगाचार ' या 'विज्ञानवाद' तथा 'माध्यमिक' या 'शून्यवाद '। माध्यमिकों के अनुसार मानसिक या बाह्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। सभी शून्य है, अतः ये 'शून्यवादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं और अश्वघोष भी शून्यवाद के समर्थक थे।

बौद्ध धर्म के इतिहास में चतुर्थ बौद्ध संगीति का विशेष महत्त्व है। इसका ग्रीष्मकालीन अधिवेशन काश्मीर के कुण्डल वन विहार में सम्पन्न हुआ था। इस अधिवेशन के अध्यक्ष वसुमित्र और उपाध्यक्ष अश्वघोष थे। ताम्र-पत्रों पर विभाषा शास्त्रों को उत्कीर्ण करने का महान कार्य बौद्धाचार्य अश्वघोष ने ही किया था।

1.4 अश्वघोष : जीवनी, स्थितिकाल एवं कृतित्व

1.4.1 जीवनी

बौद्धाचार्य अश्वघोष बुद्ध के जीवन चरित को विशुद्ध संस्कृत में लिखने वाले प्रथम महाकवि थे। स्वयं उनके ग्रन्थों के साक्ष्य के आधार पर वे साकेत (संचानकोट, जिला उन्नाव) के निवासी और आर्य सुवर्णाक्षी के पुत्र थे। वे वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड पंडित, महाकवि और तर्कशास्त्र में पारंगत थे। नालन्दा में आर्यदेव से शास्त्रार्थ में पराजित होकर अश्वघोष ने वैदिक धर्म ग्रन्थों को त्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। आर्यदेव उनके पहले गुरु थे। बाद में उन्होंने भदन्त पार्श्व को भी अपना गुरु स्वीकार किया। भदन्त पार्श्व ने उन्हें बौद्ध धर्म की उपसम्पदा प्रदान की और अश्वघोष नाम भी शायद भदन्त पार्श्व ने ही दिया था। चीनी धर्म पिटक में अश्वघोष को पुण्य का शिष्य बताया गया है।

1.4.2 स्थितिकाल

अश्वघोष के स्थितिकाल के संबंध में अन्य प्राचीन कवियों की भाँति ही विद्वानों में मत भिन्नता है। परन्तु इनके काल के संबंध में अधिक मतभेद नहीं है और इस विषय में प्रायः सभी विद्वानों में मतैक्य है कि महाकवि अश्वघोष सुप्रसिद्ध सम्राट कनिष्क (78 ई.) के समकालीन थे। सिल्वां लेवी ने अश्वघोष को कनिष्क का समसामयिक तथा नागार्जुन

का पूर्ववर्ती माना है। चीनी परंपरा के अनुसार यह भी कहा जाता है कि अश्वघोष कनिष्क के दीक्षा गुरु थे। उन्होंने ही कनिष्क के राज्यकाल (78-100) में 'अभिधर्मपिटक' की 'विभाषा' नामक व्याख्या लिखी थी। प्रो. ल्यूडर्स का अश्वघोष रचित 'शारिपुत्र प्रकरण' के आधार पर यह विचार है कि उनकी रचना कनिष्क या हुविष्क के राज्यकाल में हुई थी। परन्तु हुविष्क के साथ उनको सम्बन्धित करना प्रमाण के विरुद्ध है। डॉ. जौन्स्टन ने मातृचेट की शैली को अश्वघोष से प्रभावित माना है। मातृचेट कनिष्क का समकालीन था, अतः अश्वघोष कनिष्क से पूर्व थे। परन्तु अनेक प्रमाणों के विरूद्ध होने के कारण इस बात की संभावना अधिक है कि मातृचेट और अश्वघोष ये दोनों ही समकालीन रहे होंगे और मातृचेट की रचना के पूर्व ही अश्वघोष की रचनाओं का पर्याप्त प्रचार हो गया होगा और मातृचेट उनसे प्रभावित हुआ होगा। महामहोपाध्याय डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का अंतिम भाग माना है और बलदेव उपाध्याय का भी ऐसा ही मत है। डॉ. राधाकृष्णन ने भी अश्वघोष को प्रथम शताब्दी में स्थित कनिष्क का धार्मिक गुरु माना है। इसी तरह पी.वी.काणे महोदय ने बुद्धचरित की रचना का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी होने की संभावना व्यक्त की है। उनके अनुसार धर्मकश्यप द्वारा इसका चीनी भाषा में अनुवाद 414-421 ई. में हो जाने के कारण इस महाकाव्य की रचना तृतीय शताब्दी के बाद कथापि नहीं हो सकती है।

वस्तुतः अनेक अंतः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अश्वघोष का कनिष्क कालीन होना ही सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तर्क उल्लेखनीय हैं-

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रथम आचार्य कुमारजीव अथवा कुमारलब्ध था। उसी समय पूर्व में अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्चिम में नागार्जुन तथा उत्तर में कुमारजीव, ये चार बौद्ध धर्म के आचार्य थे।

एक चीनी परंपरा के अनुसार कहा जाता है कि बौद्धों की चौथी संगीति (महासभा) में अश्वघोष उपस्थित थे, जो सम्राट कनिष्क द्वारा कुण्डलवन विहार में बुलाई गई थी। इस संगीति के सभापति वसुमित्र तथा उपसभापति अश्वघोष थे।

'महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र' नामक ग्रन्थ का चीनी अनुवादक सांग इंग की निर्वाण-तिथि के 500 वर्ष पश्चात् अश्वघोष की स्थिति को स्वीकार करता है, परन्तु इसके भाष्यकार हुई ईन निर्वाण-तिथि के 370 वर्ष पश्चात् कवि की सत्ता स्वीकार करता है।

अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' का चीनी अनुवाद का काल 5वीं ईसवी का प्रारंभ माना जाता है। यह निश्चित है कि भारत में पर्याप्त प्रचार पाने के बाद बुद्धचरित का चीनी अनुवाद हुआ होगा, अतः अश्वघोष का समय 5वीं ईसवी के पर्याप्त समय पूर्व ही मानना यथोचित होगा।

बुद्धचरित के अंतिम सर्ग में अशोक का उल्लेख मिलता है और सम्राट अशोक के राज सिंहासन पर आरूढ़ होने की तिथि 269 ई. पू. से 232 ई.पू. निश्चित है। अतः अश्वघोष का समय निश्चित रूप से अशोक के बाद का है।

चीनी संयुक्त रत्नपिटक सूत्र सं. 1329 भाग तीन 472 ई. में अश्वघोष, माटर तथा चरक (वैद्य) इन तीनों विद्वानों का कनिष्क की राजसभा में उल्लेख किया गया है। 'कु-का-त्से-पिन-च्युन-किंग' (सं. 1340 भा.पाँच, 472 ई.) नामक पुस्तक में भी कनिष्क की सभा में उक्त तीनों विद्वानों की उपस्थिति का उल्लेख है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर प्रथम बौद्ध सम्राट् प्रियदर्शी अशोक के पश्चात् तथा द्वितीय बौद्ध सम्राट कनिष्क के समकालीन अश्वघोष की स्थिति को स्वीकार

करना समीचीन एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है। यद्यपि कनिष्क की स्थिति विवाद का विषय रही है, परन्तु ओल्डेन वर्ग, फर्ग्युसन, सैमुअल, पील, हेमचन्द्र राय चौधरी आदि विद्वानों ने अनेक ठोस प्रमाणों के आधार पर कनिष्क की स्थिति 78 ई. निर्णीत किया है। अतः महाकवि अश्वघोष का स्थितिकाल 78 ई. मानना युक्तिसंगत एवं समीचीन है। **डॉ. लाहा** के अनुसार "अश्वघोष की प्रथम शती ई.पू. में रखना असंगत न होगा।"

1.4.3 कृतित्व

महाकवि अश्वघोष के कृतित्व के संबंध में भी अन्य प्राचीन कवियों के कृतित्व की भाँति विद्वानों में मतभिन्नता है। चीनी त्रिपिटक में उनकी 8 पुस्तकों के चीनी अनुवाद मिलते हैं। बुन्यु मुंज्यु ने उनके 6 ग्रन्थ माने हैं। जबकि तिब्बती परंपरा में 11 ग्रन्थों का श्रेय अश्वघोष को दिया गया है- (1) गण्डीस्तोत्रगाथा, (2) अष्टविघ्नकथा, (3) दशकुशलकमर्थपथनिर्देश, (4) परमार्थबोधिचितभावनक्रम-वर्णसंग्रह, (5) बुद्धचरित महाकाव्य, (6) मणिदीपमहाकारूणिक - देवतंचश्तोत्र, (7) वज्रयानमूलापत्तिसंग्रह, (8) शतपञ्चाशतकनामस्तोत्र, (9) शोकविनोदन, (10) सम्वृत्तिबोधिचित्तभवनोपदेशवर्णसंग्रह, तथा (11) स्थूलापत्ति। परंतु उनके द्वारा रचित निम्नांकित 5 ग्रंथों पर सभी एक मत हैं-

'बुद्धचरित' 28 सर्गों में रचित महाकाव्य है, जिसमें भगवान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धांतों का काव्यात्मक वर्णन है। भगवान् बुद्ध के जीवन और कार्यों पर लिखा गया यह प्रथम संस्कृत महाकाव्य है। इसमें अश्वघोष ने बुद्ध-जन्म से प्रारंभ कर क्रमशः अंतःपुर-विहार, संवेग-उत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, अभिनिष्क्रमण, छंदक-विसर्जन, तपोवन प्रवेश, अंतःपुरविलाप आदि का वर्णन करते हुए बुद्धत्वप्राप्ति तक भगवान बुद्ध के संघर्षमय जीवन की नाना घटनाओं का बड़ा ही जीता-जागता एवं रूचिकर वर्णन किया है। धर्मक्षेम द्वारा किए गए चीनी अनुवाद में तथा 7 वीं-8वीं शती में किए गए तिब्बती अनुवाद में इसके 28 सर्ग हैं। परन्तु संस्कृत में केवल 17 सर्ग हैं, जिनमें अंतिम चार सर्ग बाद में अमृतानन्द द्वारा जोड़े गए हैं। इस काव्य की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए अश्वघोष का कथन है, "विद्वता एवं काव्य कौशल के प्रदर्शन के लिए नहीं बल्कि महामानव बुद्ध के शास्त्रानुकूल जीवन, मानवों के सुख और कल्याण के लिए तथा मुनि श्रेष्ठ के प्रति श्रद्धाभाव से इस काव्य की रचना की है।" अनित्य को त्याग कर नित्य का वर्णन करना अश्वघोष का सिद्धांत था। निम्न श्लोक में 'शिव' और 'अक्षम' पद निर्वाण के लिए प्रयुक्त हुआ है-

"जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं परं तत्।
स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोष।।" (बुदचरितं - 5/18)

अर्थात् "नश्वर जगत् में मोक्ष की इच्छावाला मैं प्रसिद्ध कल्याणमय अविनाशी पद खोज रहा हूँ। निज और पराये में समान बुद्धि होकर, विषयों के राग-द्वेष से रहित हो गया हूँ।"

'सौन्दरनन्द' महाकाव्य 18 सर्गों में निबद्ध यौवन-सुलभ काम तथा धर्म के प्रति जागरित प्रेम के विषम संघर्ष को भव्य भाषा में चित्रित करने वाला एक अद्भुत काव्य है। इसकी कथा का आधार पालि-साहित्य में उपलब्ध होता है। परन्तु अश्वघोष द्वारा नन्द की कथा को काव्यरूपता प्रदान करने और काव्यप्रतिभा के द्वारा निजी रूप में कथा एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रभावकारी ढ़ंग से प्रस्तुत करने के कारण उसमें वर्णित कथा से सौन्दरनन्द की कथा में कुछ अन्तर आ गया है। सौन्दरनन्द में भगवान बुद्ध के विमातृज भाई नन्द तथा उनकी पत्नी सुन्दरी की कथा है। नन्द और सुन्दरी चक्रवाक और चक्रवाकी की भाँति एक-दूसरे के प्रति आसक्त हैं और उनके इसी प्रेम की आधारभूमि को लेकर नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन कवि का अभीष्ट हैं इसमें वर्णित सभी घटनाओं का सुन्दर एवं सफल चित्रण हुआ है। पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार, "मेरी दृष्टि में सौन्दरनन्द विषय की गंभीरता तथा

कोमल काव्य भावना के अंकन में बुद्धचरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य है।" महाकवि अश्वघोष के काव्यसृजन का परम उद्देश्य" सद्यः परनिर्वृतयें न होकर "कान्तासम्मित उपदेश" के माध्यम से तमसाच्छन्न एवं पथभ्रष्ट मानव की जन्मजरा व्याधि एवं मृत्युरूप भव दुःख संस्तरण हेतु तथा ऐकान्तिक सुख की प्राप्ति हेतु एक सुदृढ़ उपदेश सेतु का निर्माण करना था। इसी का परिणाम है कि उन्होंने सौन्दरनन्द के अंतिम छः सर्गों में सुललित वाणी में बौद्ध धर्म का सुन्दर आख्यान किया है। त्रयोदश सर्ग में कवि ने शील और इन्द्रिय संयम का विवेचन किया है। शील की व्याख्या करते हुए कवि कहता है-

शीलन के कारण ही इसे शील कहा जाता है, शीलन सेवन अर्थात् भूयोभूयः अभ्यास से होता है, सेवन किसी चीज के लिए उत्कट इच्छा होने से होता है और इच्छा उसके ही आश्रय से होती है-

"शीलानाच्छीलमित्युक्तं शीलनं सेवनादपि।
सेवनं तन्निदेशाच्च निदेशश्च तदाश्रयात्।।"(13/27)

'शारिपुत्र-प्रकरण' अंकों में विरचित एक महनीय प्रकरण है, जिसमें शारिपुत्र की बौद्धधर्म में दीक्षा का प्रसंग नाटकबद्ध किया गया है। यह प्रकरण संस्कृत के 'मृच्छकटिक' तथा 'मालती-माधव' की भाँति लिखा गया है। शैली की दृष्टि से इसकी शैली बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द से मिलती है। सारिपुत्र प्रकरण का गोवी के मरूस्थल में पाया जाना, देश के बाहर उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

'सूत्रालंकार' जातक कथाओं से ली गई सुन्दर कथाओं का संग्रह है। 405 ई. में कुमार जीव ने इसका चीनी अनुवाद तैयार किया था।

'वज्रसूची' में रामायण, महाभारत, पुराणों और स्मृतियों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा का खण्डन बड़ी कुशलतापूर्वक किया गया है। वर्ण-व्यवस्था के लिए यह ग्रन्थ वज्र की तीक्ष्ण नोक के समान होने के कारण 'वज्रसूची' कहा गया है। सर्वप्रथम 1850 ई. में डॉ. वेबर ने इसका प्रकाशन किया था। 1950 ई. में प्रो. सुकुमार मुखोपाध्याय ने अंग्रेजी अनुवाद सहित इसका प्रकाशन बुद्ध विहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ से कराया।

1.5 दार्शनिक कवि अश्वघोष

बौद्धाचार्य अश्वघोष व्यक्तित्व के धनी कवि थे। उन्हें वेद, वेदाङ्ग, षड्दर्शन, रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि का अच्छा ज्ञान था। 'बुद्धचरित' एवं 'सौन्दरनन्द' से अश्वघोष का व्यक्तित्व, उनकी कलात्मक अभिरुचि, सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यता, पाण्डित्य, समन्वय तथा दार्शनिक मान्यता आदि पर प्रकाश पड़ता है।

महाकवि अश्वघोष वेदों एवं उपनिषदों के ज्ञाता थे। 'सौन्दरनन्द' में सोमरस के पान का उल्लेख कवि के वैदिक ज्ञान को व्यक्त करता है। 'बुद्धचरित' के 12वें सर्ग में उल्लिखित अराड-कलाम का गौतम को उपदेश महाभारत के सांख्य-सिद्धांतों की शिक्षा से पूर्णरूपेन मिलता है। 'सौन्दरनन्द' का निम्न श्लोक कवि के योग शास्त्रीय ज्ञान को अभिव्यक्त करता है-

"दन्तेऽपि दन्तं प्रणिधाय कामं तालग्रमुत्पीऽयच जिह्वयापि।
चित्तेन चित्तं परिगृह्य चापि कार्यः प्रयत्नी न तु तेऽनुवृत्ताः।।" (16/83)

अर्थात, "निश्चित रूप से दाँत पर दाँत रखकर जिह्वा से तालु के अग्रभाग को उत्पीड़ित कर और चित्त से चित्त का निग्रह करके प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु उनका अनुवर्तन नहीं

करना चाहिए अर्थात् दोषों के अनुकूल नहीं होना चाहिए (उनके आगे झुकना नहीं चाहिए)।

महाकवि अश्वघोष पौराणिक ज्ञान से भी मंडित थे। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' में अनेक ऐसे कथानकों का वर्णन है, जिससे उनके पौराणिक ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। स्वर्ग, इन्द्र, ययाति, नहुष, रन्तिदेव, ऋष्यश्रृंग, गौतम, परशुराम, विश्वामित्र, पाराशर आदि के चित्रण पौराणिक हैं।

अश्वघोष के तार्किक चिंतन की पद्धति सामाजिक जीवन के अनुभव पर आधारित है अतः पौराणिक कथानकों की समाज-सापेक्ष चरितार्थता की खोज की जानी चाहिए।

अश्वघोष 'भगवद्गीता' से अभिज्ञ थे और प्रभावित भी। 'भगवद्गीता' की भाँति 'सौन्दर-नंद' में भी 18 सर्ग हैं। दोनों ही काव्य गुरु शिष्य-संवाद रूप में हैं। जैसे कृष्ण ने कर्त्तव्यपथ से विचलित अर्जुन को कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर किया था, उसी प्रकार बुद्ध ने कुमार्ग में प्रवृत्त नंद को सन्मार्ग पर आरूढ़ किया था। 'सौन्दरनंद' के 'कर्मयोग', 'अभ्यासयोग', 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्पेभ्य' आदि पदों के लिए अश्वघोष 'भगवद्गीता' के ऋणी हैं। 'सौन्दरनन्द' के त्रयोदश सर्ग का 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवारयितुमर्हसि', गीता के 'इन्द्रियणीन्द्रियार्थेभ्यः' से पूर्णतः साम्य रखता है।

गीता 'चातुर्वण मया सुष्टम' का संदेश देती है और अश्वघोष चातुर्वर्णव्यवस्था की धज्जियाँ उड़ाते हैं। दोनों में समानता देखते समय इस विषमता की और ध्यान जाना कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है।

अश्वघोष व्याकरण के नियमों से भी भली-भाँति परिचित थे। 'सौन्दरनन्द' में 'लिट' का 460 बार, 'लङ्.' का 118 बार तथा 'लङ्.' का 38 बार प्रयोग हुआ है। अश्वघोष कामशास्त्र के भी ज्ञाता थे।

महाकवि अश्वघोष एक अच्छे दार्शनिक भी थे। यद्यपि वे सभी दर्शनों के ज्ञाता थे, परन्तु बौद्ध दर्शन उनका विशेष क्षेत्र था। उनके द्वारा रचित दो महाकाव्यों - बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द की रचना का मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार एवं बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का प्रतिपादन ही था। उन्होंने अपने दार्शनिक ज्ञान का उपयोग बड़े ही सुन्दर ढंग से इन काव्यों में किया है। उन्होंने 'बुद्धचरित' के 12 वें सर्ग में बौद्ध-दर्शन के सिद्धांतों को बीज रूप में उपन्यस्त किया है तथा 'सौन्दरनन्द' के 16 वें सर्ग में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का सुन्दर प्रतिपादन किया है, उदाहरणार्थ-

"सत्येषु दुःखादिषु दृष्टरार्या सम्यग्वितर्कश्च पराक्रमश्च।
इदं त्रयं ज्ञानविधौ प्रवृत्तं प्रज्ञाश्रयं क्लेशपरिक्षयाय।।" (16/32)

अर्थात्, "दुखादि सत्यों के विषय में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् विचार तथा सम्यक् प्रयत्न ये तीन ज्ञान से संबंधित हैं। इसका आश्रय प्रज्ञा है और ये क्लेश परिक्षय करने वाले हैं।" यद्यपि 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' दोनों में दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु दोनों की शैली में अंतर दृष्टिगोचर होता है। 'बुद्धचरित' में उपन्यस्त दार्शनिक सिद्धांत विशेष पाण्डित्यपूर्ण पारिभाषिक शैली में हैं, जबकि 'सौन्दरनन्द' में दार्शनिक स्थलों में भी शैली की सरसता, स्वाभाविकता एवं कोमलता अक्षुण्ण बनी रहती है। उनके अनुसार शास्त्राभ्यास करके भी जिसने अपनी बुद्धि को धर्म-कार्य में नहीं लगाया, उसका जीवन व्यर्थ है- 'आगमै र्बुद्धिसाधिक्षद् धर्माय न तु कीर्तये।' वस्तुतः अश्वघोष की कृतियों में भी दार्शनिक एवं धार्मिक उद्देश्य ही प्रधान रहा है। डॉ. सूर्यकान्त के अनुसार "निर्वृत्तिधन रसास्वाद के साधन के रूप में वे अपने काव्य की उत्थानिका नहीं बाँधते, वे तो इसे भी

ज्ञानदान का रुचिकर साधन मानकर आगे बढ़ते हैं.....अश्वघोष की दृष्टि में सद्धर्म प्रवर्तन ही जीवन का एवं जीवन के क्रिया-कलाप का जिसमें काव्य भी सम्मिलित है - परमोत्कृष्ट लक्ष्य है।"

महाकवि अश्वघोष काव्यशास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' में जहाँ उन्होंने महाकाव्यीय नियमों का पालन किया है, वहीं शारिपुत्र-प्रकरण में रूपक के एक भेद 'प्रकरण' के नियमों का पालन किया है। अश्वघोष काव्य के संबंध में न तो कालिदास के समान शुद्ध रसवादी हैं और न ही भारवि आदि के समान चमत्कारवादी या कलावादी हैं। उनका कलात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से प्रचारवादी या उपदेशवादी प्रतीत होता है और उनके काव्य का उद्देश्य परम शान्ति की प्राप्ति है। जैसा कि 'सौन्दरनन्द' में उन्होंने स्वयं कहा है-

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकतिः,
श्रोवणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचाशत् कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदव हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतम्,
पातुं तिक्तभिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति।।" (18/63)

अर्थात "मोक्ष-धर्म की व्याख्या से परिपूर्ण यह कृति शान्ति प्रदान करने के लिए है, न कि आनन्द के लिए। (यह) अन्यमनस्क श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए काव्य काव्य-शैली में रची गई है। इसमें मैंने मोक्ष धर्म से भिन्न, जो काव्य धर्म के अनुसार कहा है वह क्यों? इसलिए जिससे कि मधुमिश्रित तिक्त औषधि के समान इसे पीने योग्य सरस बनाया जा सके।"

1.6 अश्वघोष के कृतियों की भाषा-शैली, वस्तु-योजना तथा प्रकृति-चित्रण

महाकवि अश्वघोष ने अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही अपने काव्यों को भाषा-शैली, वस्तु-योजना, प्रकृति चित्रण आदि सभी दृष्टिकोणों से अतीव सुन्दर एवं सफल बनाया है। आदिकवि वाल्मीकि के समान इनके ग्रन्थों की भाषा सुगम और सरल है तथा शैली परिष्कृत एवं विच्छित्तशाली है। अश्वघोष ने अपने काव्यों में अंडगी रस 'शान्त रस' को बनाया है तथा वीर, करुण, श्रृंगार, रौद्र, भयानक आदि रसों का भी सफल चित्रण किया है। उन्होंने अपने काव्यों में शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप् आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने काव्यों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, यमक आदि सभी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का स्वाभाविक रूप से प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, 'सौन्दरनन्द' में उपमा का स्वाभाविक प्रयोग-

"तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्य्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः।।" (4/42)

अर्थात् "बुद्ध का गौरव नन्द को एक ओर खींच रहा था और प्रिया का प्रेम दूसरी ओर। लहरों के कारण तैरते हंस की तरह वह न तो जा सका और न ठहर ही सका।"

महाकवि अश्वघोष ने अपने व्यक्तित्व का प्रभाव अपने ग्रन्थों के प्रकृति-चित्रण पर भी छोड़ा है। 'सौन्दरनन्द' के दशम सर्ग में स्वर्ग-दर्शन के प्रसंग में प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है, उदाहरणार्थ-

"चलत्कदम्बे हिमवन्नितम्बे तरौ प्रलम्बे चमरो ललम्बे।
छेत्तुं विलग्नं न शशाक बालं कुलोदगतां प्रीति मिवार्यवृत्तः।।" (10/11)

अर्थात, "हिलते हुए कदम्ब वृक्षों वाले हिमालय के नितम्ब पर लम्बे वृक्ष पर लटकता हुआ एक चमर डाल में फँसी हुई अपनी पूँछ को नहीं काट सका, जैसे उत्तम आचरण वाला व्यक्ति परंपरागत मित्रता को नहीं तोड़ पाता है।"

1.7 तत्कालीन स्थिति पर अश्वघोष का प्रभाव

तत्कालीन स्थिति (ईसा पूर्व छठी शताब्दी की संक्रमण कालीन स्थिति) पर अश्वघोष एवं उनकी कृतियों का व्यापक प्रभाव पड़ा। तत्कालीन स्थिति में महान परिवर्तन की अपेक्षा थी। लोग भोग-लोलुप, हिंसा-परायण एवं क्रूरकर्मी हो गए थे। पशु की बात दूर रही, मनुष्य ही मनुष्य की बलि देता था। नर-बलि शास्त्र-विहित एवं राज-समर्थित हो गई थी। स्वर्ग-सुख की अन्ध-कल्पना से प्रेरित होकर बलपूर्वक सहस्त्रों नर कल्पित देवी-देवताओं के भोज्य बनाए जाते थे। लौकिक सुख अपूर्ण है, स्वर्गीय सुख ही पूर्ण है, जीवात्मा स्वर्ग में जाकर अक्षय भोग भोगता है - इस प्रकार भोग की तीव्र लालसा की प्रबल प्रेरणा से लोग मिथ्याचार, मोघ विचार के हो गए थे। जैसा कि डॉ. आर.एस. त्रिपाठी का कथन है, "छठी शताब्दी ई.पू. मानव इतिहास में अनेक महत्वपूर्ण युगों मे से एक है। यह असाधारण मानसिक और आध्यात्मिक अशान्ति का युग था।" ऐसी स्थिति में परिवर्तन मुख्यतः भगवान बुद्ध के बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में ही निहित था और बौद्धाचार्य अश्वघोष ने अपनी कृतियों के माध्यम से ऐसा ही किया। स्वर्गीय सुख की अन्धकल्पना से विरुद्ध यदि अश्वघोष की रचनाओं ने लौकिक सुख को महत्व दिया तोउस पर 'फोकस' करना चाहिए।

जैसे भगवान राम के चरित्रों एवं उपदेशों का महर्षि वाल्मीकि ने सुललित संगीतमय काव्य के द्वारा स्थायी प्रचार किया है अथवा जैसे भगवान् कृष्ण के चरित्रों तथा उपदेशों को महामुनि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि दिव्य ग्रन्थों द्वारा विश्व-साहित्य के रूप में संपादित किया है, उसी प्रकार महाकवि अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के लोकोत्तर चरित्रों एवं उपदेशों का अपनी कृतियों में संपादन किया है। वस्तुतः जैसे वायु चन्दन की सुगन्धि को दिशाओं में फैलता है, उसी प्रकार अश्वघोष ने भगवान का उज्ज्वल यश फैलाया है। राम और कृष्ण के चरित्र से बुद्ध के चरित्र की मित्रता को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए।

यद्यपि यह सत्य है कि महाकवि अश्वघोष की रचनाओं के संबंध में विद्वानों में मत भिन्नता है, परंतु यह भी सत्य है कि उनकी कृतियाँ कालिदास की तरह कला और सौन्दर्य के लिए नहीं, बल्कि आमजन के उपदेश और शिक्षा के लिए रची गई थीं। कालिदास ने लोगों के आनन्द के लिए, विद्वानों के परितोष के लिए, काव्य और नाटक लिखे थे। परन्तु अश्वघोष ने विषय-रत मोक्ष-विमुख लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए काव्य और नाटक लिखे थे। 'बुद्धिचरित' नामक महाकाव्य की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए अश्वघोष ने कहा है, "विद्वता एवं काव्य कौशल के प्रदर्शन के लिए नहीं बल्कि महामानव बुद्ध के शास्त्रानुकूल जीवन, मानवों के सुख और कल्याण के लिए तथा मुनि श्रेष्ठ के प्रति श्रद्धाभाव से इस काव्य की रचना की है।"

1.8 सारांश

वस्तुतः महाकवि अश्वघोष का व्यक्तित्व सर्वाङ्गपूर्ण था। वे बहुत एवं सर्वशास्त्रज्ञ थे। सरल सुकुमार भाषा, स्वाभाविक शैली, उपयुक्त अलंकार-योजना, हृदय-संवेद्य भावप्रवणता एवं सरसता के साथ धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति अश्वघोष की काव्यगत विशेषताएँ हैं।

अश्वघोष केवल बौद्ध आचार्य ही नहीं थे, बल्कि कुशल लिपिकार, भाष्यकार और कवि भी थे। वे स्वभाव से कवि, शिक्षा के द्वारा प्रकृष्ट पण्डित तथा हार्दिक विश्वास के कारण धार्मिक व्यक्ति थे। उनके काव्य जैसा अकृत्रिम सौन्दर्य आदि कवि वाल्मीकि तथा महाकवि

कालिदास के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। भोलाशंकर व्यास के शब्दों में, संस्कृत साहित्य की महाकाव्य-परंपरा के अध्येता के लिए अश्वघोष का महत्व केवल इसलिए नहीं कि वे कवि थे, अपितु इसलिए भी है कि कालिदास की कवित्त्व-प्रतिभा के अध्ययन के लिए अश्वघोष का वही महत्व है, जो शेक्सपियर की काव्य-प्रतिभा के अध्ययन के लिए मार्लो के नाटक कर्तृत्व का है।"

वस्तुतः बौद्धाचार्य अश्वघोष प्रखर विद्वत्ता के धनी थे। एक ओर उन्होंने आदिकवि वाल्मीकि तथा कविकुलगुरू कालिदास द्वारा प्रवर्तित काव्य-शैली में सफल कवि के रूप में 'बुद्धचरितम' तथा 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य की रचना की तथा दूसरी ओर इन काव्यों एवं अन्य ग्रन्थों के द्वारा बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का प्रतिपादन तथा प्रसारण किया। इस प्रकार अश्वघोष ने कवि और धर्माचार्य दोनों का समन्वित रूप मे निर्वाह किया है। चीनी बौद्ध यात्री इत्सिंग ने अश्वघोष को बौद्ध धर्म का सूर्य कहकर उनके ज्ञान की प्रशंसा की है।

इकाई 2 दिङ्नाग और आर्य नागार्जुन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 दिङ्नाग - महान् दार्शनिक और बौद्ध न्याय के जनक

2.3 दिङ्नाग का जीवनवृत्त और ग्रंथ संपदा

2.4 दिङ्नाग का दर्शन

2.4.1 प्रमाण–समुच्चय

2.4.2 न्याय प्रवेश

2.4.3 हेतु चक्रहमरू

2.5 आर्य नागार्जुन : जीवनवृत्त और ग्रंथ संपदा

2.6 आर्य नागार्जुन का दर्शन

2.6.1 शून्यता

2.6.2 प्रतीत्यसमुत्याद

2.6.3 परमार्थ और व्यवहार का संबंध

2.7 सारांश

2.0 उद्देश्य

'बुद्धकालीन साहित्य परंपरा' पाठ्यक्रम के खंड 1 की दूसरी इकाई – दिङ्नाग और आर्य नागार्जुन अध्ययन के लिए आपके समक्ष है। बौद्ध दर्शन के प्रमुख दार्शनिकों में दिङ्नाग और नागार्जुन का विशेष स्थान है। बौद्ध न्याय दर्शन का विस्तार देने में विज्ञानवादी और न्यायपंडित आचार्य वसुबंधु के वे उत्तम शिष्य शिरोमणी थे। प्रमाण–समुच्चय ग्रंथ के निर्माण दिङ्नाग प्रत्येक प्रमाण में विश्वास दर्शाते थे। आप महान बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के शून्यवाद सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। बौद्ध महायान परम्परा के शून्यता जिसे स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रतिपादित किया था की व्याख्या एवं व्यापक विस्तार देने में आचार्य नागार्जुन का विशेष योगदान रहा। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः

- महान बौद्ध दार्शनिक के दिङ्नाग के न्यायशास्त्र सिद्धान्त की विशेषताओं का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- ब्राह्मणवादी न्यायशास्त्र के विरोध के कारणों से परिचित हो सकेंगे;
- दिङ्नाग का प्रमाण–समुच्चय ग्रंथ निर्मिति के कारणों से परिचित हो सकेंगे;
- बुद्ध की समतावादी विचारधारा से प्रभावित सैद्धान्तिक विज्ञानवाद को समझ सकेंगे;
- आर्य नागार्जुन द्वारा भारतीय दर्शनों को दिए गए 'शून्यतावाद' सिद्धान्त को समझ सकेंगे;
- बुद्ध के अनात्म दर्शन को ही विस्तार देकर अनात्मवाद, के सिद्धान्त की निर्मित करने से अनित्य, दुःख तथा अनात्म के सूत्र को सहज रूप में ग्रहण कर सकेंगे;
- आर्य नागार्जुन के द्वारा प्रतिपादित प्रतीत्य–समुत्पाद सिद्धांत का विश्लेषण कर सकेंगे;

- आर्य दिङ्नाग और आर्य नागार्जुन के बौद्ध दर्शन के प्रवर्तन में विशेष योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- दोनों आचार्यों ने बौद्ध साहित्य को किस रूप में समृद्ध किया इस विशेषता को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

दिङ्नाग और नागार्जुन के क्रमशः न्यायशास्त्र सिद्धांत और 'शून्यवाद' में तथा प्रतीत्य–समुत्पाद सिद्धांत का बौद्ध दर्शन के विस्तार और प्रवर्तन में अतुलनीय योगदान है। दिङ्नाग की विद्वता के बारे में कवि कालिदास का प्रसिद्ध कथन दिङ्नाग के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'मेघदूत' कालिदास के प्रसिद्ध काव्य के नायक द्वारा वे दिङ्नाग के शास्त्रार्थ निपुणता का और उनकी वादपटुता का वर्णन करते हुए हाथ फटकार के विरोधियों के मत का खण्डन करते हैं। यथा वर्षाकालीन मेघ को, वियोग में तड़पती पत्नी के पास संदेश लेकर जाने की विनती करते हुए कहते हैं कि–

"दिङ्नागाना पथि पहिरन स्थूल्हस्तावलेपान"

'अर्थात मार्ग में यदि दिङ्नाग की सभा दृष्टि पथ में आए हैं तो उनके हाथी की सूंड जैसे हाथों की फटकारों से बचते हुए निकलना।' वसुबंधु जैसे महान बौद्ध दार्शनिक के शिष्य दिङ्नाग के प्रमाण–समुच्चय, प्रतित्य–समुत्पाद सिद्धांत ने न केवल बुद्ध के विचारों को विशेष अर्थ प्रदान किया बल्कि जन सामान्य को ब्राह्मणवादी वैदिक परम्परा के प्रभाव से मुक्त करके उन्हें विज्ञानवादी विचारों से परिचित कराया तथा प्रत्युत सिद्धांतों द्वारा उनके जीवन में सुख, चैन और शांति निर्मित करने में बड़ा योगदान दिया। वैदिक ब्राह्मणवादी अनुमान तर्कशास्त्र का खण्डन करके प्रत्यक्ष–प्रमाण को महत्व दिया है। अनुमान विशयक ज्ञान से मानव जीवन में घर कर बैठे अंधःविश्वास को दूर करके प्रत्यक्ष प्रमाण पर विश्वास किए जाने की सोच का निर्माण करने का महत्वपूर्ण सिद्धांत देकर, दिङ्नाग मनुश्य जीवन में सुधार लाने का महाकार्य करते हैं। आर्य दिङ्नाग के समकालीन आर्य नागार्जुन को उनकी अद्वितीय प्रतिभा और पांडित्य के कारण चार बौद्ध सूर्यों में भाामिल किया गया है। विख्यात चीनी यात्रिक युआन च्वांग के अनुसार यह जानकारी प्राप्त होती है। नागार्जुन महात्मा बुद्ध के दर्शन और उनके विज्ञानवादी सिद्धांतों से प्रभावित थे, यथा 'शून्यता,' 'प्रतीत्य समुत्पाद' और 'मध्यमा प्रतिपद' को वे अतीशय उच्च स्थान देते हैं। नागार्जुन शून्यता के सिद्धांत या दृष्टिकोण को, बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अनित्यता एवं प्रतीत्य–समुत्पाद नामक सिद्धांतों का सहज स्वाभाविक और तार्किक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। इन सिद्धांतों को उन्होंने अत्यंत सरल भाषा में समझा है।

शून्यता के सिद्धांत में अत्यंत सहज और बोधमयी भाषा में कहा है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अन्य वस्तु पर निर्भर है। वस्तु का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं, अर्थात् वह 'शून्य' है। इसी को प्रतीत्य–समुत्पाद के सिद्धांत में निरूपित किया। बाह्य जगत शून्य है इसलिए संसार की प्रत्येक वस्तुएं दूसरे पर आश्रित है। प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पीछे एक कारण है उसके बिना वस्तु की उत्पत्ति संभव नहीं। बुद्ध ने जिस दुःख की उत्पत्ति के कारणों की चर्चा की है वह यथार्थ है। यदि तृश्णा की अति हो जाए तो दुःख की भी अति हो जाएगी। अर्थात् दुःख के कारण को उत्पन्न ही न होने दे। ऐसा महत्वपूर्ण मानव जीवन में सुख की निर्मिति का बुद्ध का सिद्धांत नागार्जुन का अतीशय प्रिय विषय था। अर्थात् महात्मा बुद्ध का धम्म समझने के लिए नागार्जुन के शून्यता सिद्धांत को समझना आवश्यक है। प्रतीत्य–समुत्पाद को जीवन में अंगीकार करने वाले वर्ग, समुदाय निश्चित तौर पर जीवन में मध्यम मार्ग का अवलंब करके विशेषकर तृष्णानिरोध से निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। यह नागार्जुन के सिद्धांत का सार है।

2.2 दिङ्नाग : महान दार्शनिक और बौद्ध न्याय के जनक

भारतीय दर्शनों में बौद्ध दर्शन अपना एक अलग स्थान रखता है। बौद्ध न्याय को आगे बढ़ाने में जिनका सबसे बड़ा योगदान रहा उनमें आचार्य दिङ्नाग सबसे अग्रणी है। महान् विज्ञानवादी और न्यायपंडित आचार्य वसुबंधु के वे शिष्योत्तम थे। अपने गुरू जैसी सर्वत्तोमुखी प्रतिभा तो उनके पास थी ही इसके अलावा अत्यंत प्रभावशाली व्यक्तित्व के भी वे धनी थे। उनकी दिप्ति, उनके तर्क, उनकी वाकपटुता और सार्वजनिक शास्त्रार्थ परिषदों में उनके विद्वतापूर्ण आग्रही प्रतिपादन से, उनके विरोधक भयभीत होकर पराभूत हो जाते थे। ब्राह्मण दार्शनिक उनके सामने काँपते थे। आचार्य दिङ्नाग के प्रभाव से, उनके समकालीन कवि कालिदास भी बच न सके, इसका पता हमें मेघदूत काव्य के एक उल्लेख से चलता है। जब उस काव्य का नायक - 'यक्ष', पत्नी वियोग से पीड़ित होने के कारण वर्षाकालीन मेघ को अपनी पत्नी के पास दूत बनाकर भेजता है और मार्ग में दिङ्नाग उनके स्थूल हस्त यानि बड़ी सूँडों जैसी फटकार से बचकर जाने की सलाह देता है -

दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूल्हस्तावलेपान् (2.14)

यहाँ दिङ्नाग शब्द का द्विअर्थी प्रयोग कवि ने किया है और उसके अष्टदिक्पाल हाथी और आचार्य दिङ्नाग दोनों अर्थ निकलते है। आकाशस्थ दिग्गजों का या आचार्य दिङ्नाग जैसे महान् दार्शनिक का पथ छोड़कर चलने का आदेश कवि ने उस मेघ को दिया है। टीका कार मल्लिनाथने इस पंक्ति की टीका में स्पष्ट रूप से कहा भी है -

'दिङ्नागाचार्यस्थ हस्तावलेपान् स्थय विन्यास पूर्ण काणि दूषणानि परिहरन्।' (अर्थात् दिङ्नागाचार्य के हस्तावलेपों से यानि हाथों की फटकारों से बचते हुए)। कहा जाता है कि आचार्य सार्वजनिक शास्त्रार्थ के समय हस्तावलेप करते थे यानि हाथ फटकार कर विरोधीमतों का खंडन किया करते थे। उनका व्यक्तित्व भी काफी गंभीर था। उनके स्थूल हस्तावलेपों को 'परिहहन्' यानि टालते हुए आगे निकल जाने की सलाह कवि कालिदास ने मेघ को दी है। इसका सीधा अर्थ यही दिखता है कि कवि कालिदास दिङ्नाग की वादपटुता और पांडित्य से अच्छी तरह परिचित थे और उन्होंने उसी की ओर ये संकेत किया है।

2.3 दिङ्नाग का जीवनवृत्त और ग्रंथ संपदा

कवि कालिदास द्वारा दिए गये उपर्युक्त निर्देश को ध्यान में रखते हुए यदि दिङ्नाग का समय निर्धारण किया जाय तो वे कालिदास के समकालीन हो सकते है। वसुबंधु के शिष्य होने के कारण दिङ्नाग निश्चित रूप से उनके बाद हुए होंगे। वसुबंधु और कालिदास के बीच उनका काल हो सकता है और उन्हें 425 ईसवीं यानि कि पाँचवी शताब्दी के प्रथम भाग का माना जा सकता है, ऐसा महापंडित राहूल सांकृत्यायन का मत है। उन्होंने अपने 'बौद्ध दर्शन' नामक ग्रंथ में कहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से, कालिदास के समकालीन होने के कारण दिङ्नाग को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन भी कहा जा सकता है।

दिङ्नागाचार्य के जीवन के विषय में तिब्बती परंपरा और इतिहास लेखक लामा तारानाथ, बु-स्टोव और अन्य विद्वानों का लिखा हुआ विवरण पुराणकंथाओं की तरह कल्पनारचित होने के कारण उतना विश्वसनीय नहीं माना जाता। लेकिन पं. राहुल सांकृत्यायन और महामहोपाध्याय सतीशचंद्र विद्याभूषण जैसे ग्रंथकारों ने उनके जीवन का सत्यदर्शन कराया है। उसके अनुसार उनका जन्म दक्षिण भारत में तमिल प्रदेश के कांची यानि कि कांजीवरम् के पास सिंहवक्र नाम के गांव में एक ब्राह्मण-घर में हुआ था। थोड़े बड़े होने

होने पर वह थेरवादी वात्सीपुत्रीय बौद्ध संप्रदाय के भिक्षु नागदत्त के संपर्क में आए और उनकी विद्वता और शील से प्रभावित हुए। बाद में उनके शिष्य बनकर उन्होंने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और भिक्खु बन गये। बौद्ध दर्शनों का गंभीर अध्ययन करते-करते दिङ्नाग का गुरू नागदत्त से मतभेद हुआ। पुद्गल (जीवात्मा) के विषय को लेकर हुए मतभेद के कारण दिङ्नाग उस विहार को छोड़ उत्तर भारत चले गये और नालंदा महाविहार में आचार्य वसुबंधु के पास जाकर उनके शिष्य बन गये। वहाँ पर उन्होंने न्यायशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। थोड़े ही समय में उन्होंने शास्त्रार्थ में अपने प्रतिद्वंदियों को पराभूत किया और ग्रन्थों का लेखन किया। उनके 'प्रमाण समुच्चय' जैसे ग्रंथ बौद्ध दार्शनिक क्षेत्र में और उसमें भी तर्कशास्त्र जैसे गंभीर और दुरूह क्षेत्र में बड़े ही मौलिक माने जाते हैं, यही उनकी महत्ता है।

आचार्य दिङ्नाग पहले थेरवादी भिक्खु थे। उनके महायानि बनने के पीछे, एक जनश्रुति है जिसके अनुसार, बोधिसत्त्व मंजूश्री उनके सामने प्रकट हुए और अर्हतपद की जगह बोधित्व बनकर जनकल्याण करने की सलाह उन्होंने दिङ्नाग को दी। बोधिसत्व मंजूश्री का साक्षात्कार जैसी घटनाएँ जनश्रुति के अर्थ में ही लेनी चाहिए। इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो सत्य यह है कि थ्दङ्नाग हीनयानि से महायानि की ओर आकर्षित हुए और महायानि की योगाचार शाखा और बौद्ध न्याय पर उन्होंने अपना ध्यान केंद्रित किया और अपनी प्रकांड विद्धत्ता के कारण 'न्याय शास्त्र का पिता' कहलाने लगे।

आचार्य दिङ्नाग के ग्रंथ : आचार्य दिङ्नाग ने महायानि शाखा का अंगीकार करने के, उपरान्त 'प्रमाण-समुच्चय' की रचना की। ये दोनों घटनाएँ युआन्-च्वांग और बुस्टॉन के अनुसार दिङ्नाग के जीवनी की अति महत्वपूर्ण घटनाएँ है। 'प्रमाण समुच्चय' के अलावा वे 100 ग्रंथों के लेखक थे, ऐसा बुस्टॉन तथा तारानाथ कहते है। दिङ्नाग की कृतियाँ तिब्बती और चीनी संस्करणों में संरक्षित रही। उनकी प्रारंभिक दो कृतियों में एक तो उनके आचार्य बसुबंधु के 'अभिधर्मकोश' का सारांश है जिसका शीर्षक है 'अभिधर्मकोश मर्म प्रदीप'। दूसरी पुस्तक है 'अष्ट साहसिका', 'प्रज्ञा पारमिता' का संक्षेप। आचार्य थ्दङ्नाग की अन्य कृतियों में, आलम्बन परीक्षा, त्रिकाल परीक्षा, 'हेतु-चक्रहमरू', 'न्याय-प्रवेश', आदि न्याय या तर्क शास्त्र से संबंधित मुख्य ग्रंथ है। उनका प्रमाण-समुच्चय उनकी इन सब छोटी पुस्तिकाओं का एक विशाल चयन या संग्रह है। दिङ्नाग प्रमाण समुच्चय के आरंभ में लिखते हैं -

> प्रमाण भूताय जगदहितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
> प्रमाण सिद्धयै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसिता दिहैककः।।

अर्थात, "जगत के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा बुद्ध को प्रणाम कर, जहाँ तहाँ फैले हुए अपने मतों को यहाँ एक जगह प्रमाण सिद्धि के लिए एकत्रित किया जाएगा।" (यही श्लोक द्वारिकादास द्वारा संपादित प्रमाणवार्तिक ग्रंथ में इस प्रकार दिया है -

> प्रमाण जगदहितौषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
> कुतर्क संभ्रान्त जनानुकम्पया प्रमाणसिर्विद्यिवद् विधीयता।।

जैसा कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन अपने 'बौद्ध दर्शन' में हमें बताते हैं कि प्रमाण समुच्चय का मूल संस्कृत रूप उन्हें आखिर तक नहीं मिला, ऐसे पाठभेद दिखाना स्वाभाविक है। उन्होंने अपनी चार तिब्बत यात्राओं में मूल संस्कृत पाठ ढूंढने के अथक प्रयास किए, किन्तु सफलता नहीं मिली।

इसलिए 'प्रमाण समुच्चय' के तिब्बती भाषिक संस्करण के आधार पर ही उन्होंने इस ग्रंथ के परिच्छेद तथा उनके अंतर्गत कारिकाओं की संख्या बतलाई है, जो इस प्रकार है -

परिच्छेद	विषय	श्लोक-संख्या
1.	प्रत्यक्ष-परीक्षा	48
2.	स्वार्थानुमान-परीक्षा	51
3.	परार्थानुमान-परीक्षा	50
4.	दृष्टान्त-परीक्षा	21
5.	अपोह-परीक्षा	52
6.	जाति-परीक्षा	25
		257

लेकिन हाल ही में प्राप्त जानकारी के अनुसार मूल संस्कृत संस्करण अभी उपलब्ध हुआ है। दिङ्नाग ने अपने ग्रंथ में दूसरे दर्शनों की - खास करके वातस्यायन के न्यायभाव्य की इतनी कड़ी और तर्कसंगत आलोचना की है कि - उस पर पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज को सिर्फ उस आलोचना का उत्तर देने के लए स्वतंत्र रूप से 'न्याय-वार्त्तिक' लिखना पड़ा। न्यायवार्तिका की पहली ही कारिका में उद्योतकर अपने ग्रंथ का प्रयोजन बताते हो। वह कारिका दिङ्नाग के लिए खंड़ी की हुई चुनौती को साफ दिखलाती है-

यदि अक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञान निवृत्ति हेतु करिष्यते तस्य मया निबन्धः।।

अर्थात्, मुनियों के मुनि अक्षपाद गौतम ने जो शास्त्र जगत के संतोष के लिए (बताया), उस परं अज्ञानवश आक्षेप या शंका लेनेवाले कुतार्किकों के - दुष्ट बौद्ध तार्किकों के अज्ञान निवारण के लिए में इस ग्रंथ की रचना कर रहा हूँ।

यहाँ 'कुतार्किक' शब्द से दिङ्नाग की और संकेत किया गया है, यह स्पष्ट है।

लेकिन दिङ्नाग एक ऐसे प्रमुख बौद्ध दार्शनिक थे जिन्होंने तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र को एक अलग विषय के रूप में स्थापित किया। उनके पूर्ववर्ती आचार्य असंग तथा बसुबंधु भी महान् न्यायविद थे। लेकिन दिङ्नाग ने ब्राह्मणवादी न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र का विरोध कर तथा तर्कशास्त्र में आवश्यक परिवर्तन लाकर उसका विकास तो किया ही, इसके अलावा उसे बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धांत के अनुकूल भी बनाया। इसके लिए दिङ्नागाचार्य को ब्राह्मणवादी नैयायिकों से बड़ा भारी संघर्ष करना पड़ा । उन्हें नालंदा में आमंत्रित किया गया जहाँ उन्होंने ब्राह्मण सुदुर्जय और अन्य तीर्थिकों को बाद में पराभूत कर भगवान बुद्ध के सिद्धांतों का अनुयायी बनाया। उनकी इस विजय के कारण उन्हें 'तर्क पुंगव' उपाधि से जाना जाता था। दिङ्नाग ने महाराष्ट्र, ओरिसा और दक्षिण (मद्रास) में बहुत भ्रमण किया और जगह-जगह अपने विरोधकों के साथ वाद-प्रतिवाद किया। इन वादों में जितने आक्रमण दिङ्नाग पर हुए उतने ही आक्रमण उन्होंने भी अपने प्रतिद्वंद्वियों पर पटक कर किये। उनका पूरा जीवन ऐसे विचार-युद्धों में या युक्तिवादों की लड़ाई में बीता। कालिदास तथा उद्योतकर की टिप्पणियाँ तो हमने देखी। दिङ्नाग पर प्रहार करने वाले अन्य विद्वान थे वाचस्पति मिश्र जिन्होंने उन्हें 'भ्रांत' कहकर उनकी भ्रांतियाँ अपने न्याय वार्तिक-तात्पर्य-टीका में दिखलाई। मल्लिनाथ, जो प्रसिद्ध टीकालेखक थे, ने उन्हें 'अद्रिकल्प' 'पत्थर' जैसा कहाँ विख्यात मीमांसक कमरिण भट्ट ने जैमिनी के पूर्वमीमांसा सूत्रों पर लिखे अपने वार्तिकों के अनुमान परिच्छेद में दिङ्नाग पर शरंसधान किया है। वेदान्ती तथा जैन भी दिङ्नाग को कोसने में पीछे नहीं रहे। धर्मकीर्ति ने भी उनका विरोध करने की चेष्टा की।

सचमुच, दिङ्नाग शरीर और मन दोनों से सामर्थ्यशाली व्यक्ति रहे होंगे जिन्होंने सभी दिशाओं से होने वाले सभी आक्रमणों का सामना बड़े ही आवेशपूर्ण तथा निडर ढंग से किया। उनकी जगह दूसरा कोई भी होता तो एक दिन भी यह कर नहीं पाता।

2.4 दिङ्नाग का दर्शन

2.4.1 प्रमाण–समुच्चय

प्रमाण-समुच्य निर्विवाद रूप से दिङ्नाग का सर्वश्रेष्ठ साहित्य रूप स्मारक है। कहा जाता है कि प्रमाण-समुच्चय की रचना उन्होंने तब की जब वह आंध्र प्रदेश (आज का तेलंगाणा) के वेंगी नामक एक निर्जन पहाड़ी पर रह रहे थे। जब उन्होंने देखा कि उनके द्वारा रचे गये तर्कवाद के शास्त्र यहाँ-तहाँ बिखरे है तब उनको एक जगह जुटाकर, उन्होंने उन सारे ग्रन्थों के अंशों से श्लोकों में (कारिकाओं में) निबद्ध एक विस्तृत सारसंग्रह (Compendium) बनाया और उसे शीर्षक दिया 'प्रमाण समुच्य' कहा जाता है कि 'प्रमाण समुच्य' की प्रारंभिक पंक्तियाँ जब दिङ्नाग लिखने लग तब अचानक धरती काँपने लगी और पूरा आसमान प्रकाश और बड़े कोलाहल ध्वनि से भर गया। इस चमत्कार से विस्मित होकर ईश्वर कृष्ण नामक एक ब्राह्मण (जो संभवतः सांख्य-कारिकाओं के रंचनाकार ईश्वरकृष्ण थे, ऐसा 4.4, सतीशचंद्र विद्याभूषण मानते हैं, वहाँ आया और देखा कि दिङ्नाग भिक्षा के लिए बाहर गये है, तो उनके द्वारा लिखा हुआ सब मिटाकर चला गया। ऐसा उसने लगातार तीन-चार बार किया। उस पर दिङ्नाग ने ऐसा करने से मना करते हुए प्रत्यक्ष आकर शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। सूचना पढ़कर ईश्वरकृष्ण वहाँ दुबारा आया और उन दोनों के बीच अपने-अपने सिद्धांतों को लेकर बड़ा विवाद हुआ। विवाद में कई बार दिङ्नाग द्वारा पराभूत होने पर भी, बुद्ध-तत्वज्ञान का स्वीकार करने के लिए ईश्वरकृष्ण तैयार नहीं हुए। उल्टा दिङ्नागाचार्य की सारी वस्तुओं को उन्होंने आग लगा दी, आग देखकर दिङ्नाग थोड़े पीछे हटे और उतने में ईश्वरकृष्ण वहाँ से तेजी से भाग गये।

जब दिङ्नाग ने देखा कि वह एक व्यक्ति को भी बदल न सके तो निराश होकर प्रमाण-समुच्चय का रचनाकार्य छोड़ने की बात सोचने लगे। उतने में बोधिसत्व आर्य मंजुश्री वहाँ प्रकट हुए और उन्हें ऐसा करने से मना कर, इस शास्त्र ग्रंथ को पूरा करने का आदेश दिया। मंजूश्री बोधिसत्व के अदृश्य होने पर दिङ्नाग ने पुनः अपना ग्रंथ लेखन शुरू किया और प्रमाण-समुच्चय को अंतिम स्वरूप दिया।

इस जनश्रुति में कही गयी अतीन्द्रिय घटनाओं पर विश्वास करना कठिन है। लेकिन ईश्वरकृष्ण और दिङ्नाग इन दोनों में शास्त्रार्थ होने की संभावना काल की दृष्टि से परखनी चाहिए। सांख्य छह वैदिक दर्शनों में से एक प्रधान दर्शन था इसलिए उससे बौद्ध दर्शन का विरोध संभवनीय है।

प्रमाण-संमुच्चय का मूल संस्कृत संस्करण् यद्यपि आज तक अनुपलब्ध था, फिर भी उसके तिब्बती अनुवाद के आधार पर यह बताया जा सकता है कि यह अनुष्टम छन्दोबद्ध है और यह अनुवाद हेमवर्मा या कनकवर्मा नामक भारतीय विद्वान द्वारा किया गया। तर्कशास्त्र की भाषा में प्रमाण का मतलब हे यथार्थ ज्ञान और जिसके द्वारा इस प्रमाण तक पहुँचा जा सकता हे उसे कहते है प्रमाण (प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम)। यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के साधनभूत प्रमाणों को संग्रह माने प्रमाण-समुच्चय। यह छह प्रकरणों में विभक्त है जिनके विषय हम पूर्व ही जान चुके हैं। ग्रंथ के अंत में थ्दङ्नाग कहते हैं-

"सारे क्षेत्रों के सभी प्रतिद्वंद्वियों को जिसने शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया तथा जिसमें हाथी की ताकद है ऐसे दिङ्नाग ने स्वरचित ग्रंथों से ही यह प्रमाण-समुच्चय संगृहित किया है।'

दिङ्नाग केवल प्रत्यक्ष ओर अनुमान इन दो प्रमाणों को यथार्थ ज्ञान के साधनभूत मानते है-

प्रत्यक्षम् अनुमानञ्च प्रमाणं हि द्वित्रक्षणम्।
प्रमेयं तत्र सिद्वं हि न प्रमाणान्तरं भवेत।। (परिच्छेद 1)

ब्राह्मणवादी न्यायदर्शन के संस्थापक आचार्य अक्षपाद प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों को मान्यता देते है। उनके प्रतिपक्षी होने के नाते आचार्य दिङ्नाग का यह दावा है कि सभी वस्तुओं का या विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण पर्याप्त है। शेष शब्द तथा उपमान इन दो प्रमाणों को थ्दङ्नाग अनावश्यक समझते है। वे उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण का ही हिस्सा मानते है।

आचार्य दिङ्नाग द्वारा हिंदू न्यायशास्त्र में किया हुआ दूसरा परिवर्तन यह था कि उनके 'अनुमान' प्रमाण के पाँच अवयवों की जगह उन्होंने केवल तीन अवयवों को मान्य किया। जब स्वयं अनुमान करने के बाद दूसरों को समझाने की बात आती है। तब उसे परार्थानुमान कहा जाना है। ब्राह्मणी तर्कशास्त्र के अनुसार उसकी प्रक्रियाँ पाँच वाक्यों से बनती थी जो प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन बताते हुए - प्रतिज्ञा - पर्वत पर अग्नि है।

हेतू- क्योंकि पर्वत धुआं है।

उदाहरण - जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोई जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं रहता जैसे सरोवर।

इन तीन अवयवों को उन्होंने आवश्यक बतलाया। उनका दूसरा महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने अनुमान प्रमाण के विषय में एक बुनियादी सवाल उपस्थित कर उसका समाधान किया।

सामने दिखने वाले पर्वत पर अग्नि है
क्योंकि उस पर धुआँ (दिख रहा) है।

इस अनुमान वाक्य में हम वास्तव में धुओं से किसका अनुमान करते है? क्या हम अग्नि का अनुमान करते हैं? या फिर अग्नि के पर्वत के साथ संबंध का अनुमान करते है? दिङ्नाग इन दोनों को नकारते हैं और अपना मन्तव्य देते है कि हमारा अनुमान न अग्नि का, न अग्नि और पर्वत के बीच के संबंध का होता है। हम अनुमान करते हैं धुएँ का अर्थात अग्नि से युक्त पर्वत का। इस बात से उनकी गहरी सोच का पता चलता है।

दिङ्नाग ने बाह्मणवादी न्याय-वैशेषिक दर्शनों की त्रुटि को दर्शाते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वतंत्र रूप से विचार किया है। यह प्रमाण-निर्विवाद रूप से सभी दर्शनों के लिए महत्वपूर्ण प्रमाण है।

जहाँ न्याय-वैशेषिक प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण-

'इन्द्रियार्थ संनिकर्ष जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम' अर्थात 'हमारी ज्ञानेन्द्रियों का विषयों से संयोग होने पर होने वाला ज्ञान' बताते हुए थ्दङ्नाग कहते हैं -

प्रतयक्षं कल्पनापोढं
नामजात्यादि-असंयुतम्।

अर्थात कल्पना से रहित या निर्विकल्प तथा नाम-जाति आदि से संबंधित न रहने वाला ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान' ऐसी व्याख्या करते हुए प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप नैयायिकों की तुलना में अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते दिखाई देते है। प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात होने के कारण उसमें कल्पना की कोई भी संभावना नहीं रहती। अतः उसे दिङ्नाग 'कल्पनापोढ़' कहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान का और एक महत्वपूर्ण आग्रह यह है कि वह 'स्वलक्षण' अर्थात् अनन्यि होता है। और तीसरी विशेषता यह कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक होता है। इसी को दिङ्नाग 'सत्' ज्ञान मानते है।

इसके विपरीत 'अनुमान' परोक्षविषयक ज्ञान है। जो चीज प्रत्यक्ष अनुभव का विषयन हो, उसे 'परोक्ष' कहा जाता है। जैसा कि पर्वत पर धुआँ प्रत्यक्ष दिखता है इसलिए धुओं का

ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हुआ। उसके द्वारा उस पर्वत पर हमें आँखों से न दिखने वाले अग्नि का हम अनुमान लगाते है एक तरह से धूम के द्वारा परोक्ष 'अग्नि' सामन्य लक्षणात्मक' होती है, न कि प्रत्यक्ष की तरह स्वलक्षणात्मक। यह ज्ञान क्षणिक नहीं होता। ज्ञान क्षेत्र में इस विचार से इन दिनों कितनी बड़ी क्रांति आई होगी इसका अंदाजा हम आज भी लगा सकते हैं।

2.4.2 न्याय प्रवेश

बौद्ध तर्कशास्त्र पर दिङ्नाग का और एक उत्कृष्ट प्रकरण ग्रंथ है न्याय-प्रवेश जिसका संस्कृत-मूल नष्ट हो चुका था लेकिन तिब्बती भाषा में अनुवाद उपलब्ध था जो कि महान् काश्मीरी पंडित सर्वज्ञ श्री-रसिन और एक शाक्य भिक्खू ने लिखा था। इस ग्रंथ के आरंभ में कहा गया है कि -

"प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों का उनके तर्कदोषों या आभासों सहित किया हुआ अध्ययन, प्रतिद्वंद्वियों के साथ युक्तिवाद या शास्त्रार्थ करते समय तो उपयुक्त होता ही है, उसी के साथ स्वयं अपनी समझ बढ़ाने के लिए भी आवश्यक प्रतीत होता है। यह देख कर ही मैं इस न्याय-प्रवेश शास्त्र की रचना कर रहा हूँ।"

2.4.3 हेतु चक्रहमरू

यह दिङ्नाग द्वारा तर्कशास्त्र पर रचित एक ओर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें उन्होंने किसी भी अनुमान के साध्य तथा हेतु इन दोनों के बीच संभाव्य ऐसे नौ संबंधों के लक्षण तथा विश्लेषण प्रस्तुत किये है जिन्हें हेतु-चक्र कहा है। हमें यह मालूम होना चाहिए कि अनुमान विषयक वाक्य में तीन घटक होना आवश्यक होता है - साध्य, हेतु और पक्ष।

उदाहरण पर्वत पर आग है।
क्योंकि उस पर धुआँ दिख रहा है।

इस वाक्य में 'पर्वत' यह पक्ष या अधिष्ठान (आश्रय) है जिस पर हमें 'अग्नि' यह 'साध्य' सिद्ध करना है जो हमें प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं दे रहा है। और इसका साधन है 'धुआँ' जो हमें उस पर्वत पर दिखाई दे रहा है, जिसे अनुमान की भाषा में 'हेतु' कहा जाता है।

पर्वत पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए दो प्रकार के उदाहरण दिए जाते है। जहाँ हेतु साध्य को साथ पहले देखा गया है उसे 'सपक्ष' कहते है- जैसा रसोईघर में देखा हुआ जल्ता हुआ चुल्हा। दूसरा उदाहरण वह होना है जहाँ कभी साध्य रह नहीं सकता। इसलिए हेतु भी नहीं दिखता जैसा जलाशय। जलाशय या सरोवर में अग्नि रह नहीं सकता इसलिए धुआँ भी हो नही सकता। 'पर्वत पर अग्नि है' इस अनुमान में दिया गया 'हेतु' धुआ, ऊपर दिये गये अन्वयी उदाहरण चूल्हा और व्यतिरेकी उदाहरण 'जलाशय' इन दोनों के द्वारा 'सदहेतु' साबित होता है जिसे अंग्रेजी में Valid Reason कहते हैं।

लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में कई बार हेतुओं में त्रुटियाँ पाई जाती है, जिनके होते हुए साध्य सिद्ध नहीं होता या सत्य साबित नहीं होता। हेतु-चक्र में दिङ्नाग ने नौ संभाव्य हेतुओं का विवरण ओर विश्लेषण किया है, जिनमें से केवल दो हेतु सद्हेतु है और शेष सात हेतुओं में कुछ ना कुछ दोष होने के कारण वे असदेहतु या हेत्वाभास है।

दिङ्नाग के इसी तर्कपांडित्य के कारण उनकी वाद कुशलता वादातीत रही। दिङ्नाग के पूर्व उनके गुरू आचार्य बसुबंधु क्षणिकतावाद या अनित्यतावाद का अनुपमेय शास्त्रार्थ, वर्ण, जाति, व्यवस्था की नित्यता मानने वाले ब्राह्मणवादी दर्शनों के खिलाफ उठाया था।

'अभिधर्मकोश' एक हाथ में लिए, दूसरा हाथ बड़े अभिमान और अभिनिवेश के साथ फटकारते हुए आचार्य दिङ्नाग वादसभाओं को जीतते थे। कड़े से कड़े विरोधकों को भी

वागयुद्ध परोस कर देते थे। उनके पास विलक्षण प्रतिभा तो थी ही। उसके साथ बौद्ध न्याय या तर्कशास्त्र, अपूर्व वादपटुता तथा कृत्व और इन सब के मूल में जाने वाला 'सौत्रानिक विज्ञानवाद' नामक तत्वज्ञान था जो था बुद्ध की 'समता' की तरफ ले जाने वाला था। उनकी दार्शनिक रचनाएँ आज हमें उपलब्ध हो रही है यह तिब्बत ओर चीन का हम पर ऋण है। अन्यथा या चार्वाक दर्शन की तरह बौद्ध तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र भी आज सर्वथा नष्ट हो गया होता।

आचार्य दिङ्नाग इस तत्वज्ञान तथा तर्कशास्त्र की मदद लेकर महाराष्ट्र के महान सत्यशोधक मार्क्सवादी संस्कृत पंडित कॉ. शरद पाटील ने अब्राह्ममणी सौंदर्यशास्त्र विकसित किया। इस कार्य में उन्हें 15 साल व्यतीत करने पड़े।

दिङ्नाग के सौंदर्यशास्त्र की पुनर्रचना करने से ब्राह्मणी परंपरा के समांतर ईसा की द्वितीय शताब्दी से निरन्तर चलती आयी श्रमण विचारधारा के ज्ञान हमें प्राप्त हो सकते हैं।

दार्शनिक क्षेत्र को आचार्य दिङ्नाग की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने ब्राहमणों के बाह्य यथार्थवादी तर्कशास्त्र के विरोध में अनित्यतावादी तर्कशास्त्र (Dialectical Logic) की निर्मिति की जिसे छठी शताब्दी में उनके शिष्य आचार्य धर्मकीर्ति ने पूरी तरह विकसित किया। उसी तरह प्रमाणशास्त्रों-प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ज्ञानों को पृथक करने वाले सर्वप्रथम आचार्य दिङ्नाग ही थे। आचार्य थ्दङ्नाग ने भगवान बुद्ध के अनित्यतावाद को केवल दर्शन शास्त्र में ही नहीं बल्कि 'साहित्य' तक भी पहुँचाया, जिसके कारण महाकवि कालिदास को भी उनकी दखल लेनी पड़ी और उनसे हार माननी पड़ी।[2]

2.5 आर्य नागार्जुन : जीवनवृत्त और ग्रंथ संपदा

आर्य नागार्जुन एक श्रेष्ठ बौद्ध आचार्य तथा महान बौद्ध तत्त्वज्ञानी थे। भारतीय तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में 'माध्यमिक दर्शन' नामक स्वतंत्र संप्रदाय का प्रवर्तन करने वाले वे एक महान् दार्शनिक थे। उनके दार्शनिक सिद्धान्त को 'शून्यवाद' के नाम से जाना जाता है। 'शून्यवाद' यह बौद्ध महायान परंपरा का दार्शनिक सिद्धांत है। वैसे तो सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध ने 'शून्य' या 'शून्यता' का प्रतिपादन किया था। किन्तु उसकी एक व्यापक सिद्धांत के रूप में व्याख्या एवं प्रस्तुतीकरण आर्य नागार्जुन ने किया। उनकी अद्वितीय प्रतिभाशक्ति तथा पांडित्य के कारण उन्हे चार बौद्धसूर्यों में से एक माना जाता था। ऐसी जानकारी विख्यात चीनी यात्रिक युआन-च्वांग (ह्यू एनत्संग) हमें देते हैं, जिन्होंने ई. शताब्दी 629-645 के दरम्यान भारत की यात्रा की थी।[1]

इस देश में पुरानी सदियों से एक रिवाज चलता आ रहा है। निजी जीवनी के विषय में प्रायः सभी बड़े बड़े साहित्यकारों ने, कलाकारों ने हमेशा मौन धारण किया है; चाहे वे बौद्ध महाकवि आचार्य अश्वघोष हो; या फिर महाकवि कालिदास हो, या फिर महान् नाटककार भवभूति हो। यही बात इस महादार्शनिक के बारे में भी घटी। उनका काल व्यक्तित्व तथा रचनाए संदिग्धता के घेरे में रही। सिद्ध नागार्जुन और बौद्ध नागार्जुन एक या अलग? यह विवाद भी रहा। अनेकानेक दंतकथाएँ उनके बारे में बताई जाती है। जिनका पर्दा हटाकर, बरसों से चले आये शोधकार्य के माध्यम से आर्य नागार्जुन की जीवनी को ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कई विद्वानों ने लोगों के सामने रखा। उनका जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मणकुल में हुआ था और वे सातवाहन राजा यज्ञश्री के समकालीन और मित्र थे ऐसा युआन् च्वांग ने भारत के अपने यात्रा वृत्तांत में लिखा है। दूसरे एक मत के अनुसार, वे दक्षिण में

1. on yuan-chuang's Travels in India (AD.629-645)by T. Watters (Reprint, Delhi 1961)
2 (अब्राह्मणी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ. शरद् पाटील, सुगावा प्रकाशन, पुणे, प्रथम संस्करण जुलाई 1988)

आन्ध्रप्रदेश के रहने वाले थे और आंध्रदेश के सातवाहन राजा गौतमीपुत्र (समकालीन) उनके अच्छे मित्र थे। 'सुहल्लेख' नाम से विख्यात-नागार्जुन का पत्र इसी सातवाहन राजा (सुहद्) को लिखा हुआ था, ऐसी धारणा है।

ई.स. 405 के करीब कुमारजीव (या कुमारलात) का लिखा हुआ नागार्जुन का चीनी में लिखा भाषा एक चरित्र उपलब्ध हुआ है। तिब्बती ग्रंथों में भी नागार्जुन संबंधी कुछ आख्यायिकाएँ मिलती हैं। उनके अनुसार उन्होंने केवल 60 दिनों के अंदर संपूर्ण त्रिपिटक ग्रंथ पढ़ लिया। किन्तु उनका समाधान न होने के कारण वे 'महायानि' की ओर मुडे। हिमालयस्थित एक भिख्खु ने उनका ध्यान महायान सूत्रों की तरफ खींचा। महायानि साहित्य में विख्यात प्रज्ञापारमिता सूत्रों पर उनकी टीका 'महाप्रज्ञापारमिता' निश्चित रूप से उनकी कृति मानी जाती है। किन्तु संस्कृत में लिखी यह टीका नष्ट हो गयी। उसका चीनी अनुवाद-जो कुमारजीव ने किया था उपलब्ध है। माध्यमिक कारिका इस संस्कृत ग्रंथ पर उन्होंने स्वयं 'अकुतोभया' नामक संस्कृत टीका भी लिखी थी। उसका भी केवल तिब्बती तथा चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है।

आर्य नागार्जुन का समय :

तिब्बती परंपरा के अनुसार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 800 साल बाद नागार्जुन हुए। उस परंपरा का मानना है कि भ.बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व 514 में तथा महानिर्वाण ईसा पूर्व 433 में हुआ। इसका अर्थ, नागार्जुन का समय ईसा पूर्व 33 हो जाता है। इस पर महामहोपाध्याय सतीशचंद्र विद्याभूषण[3] आपत्ति जताते हुए लिखा है कि यदि नागार्जुन नालन्दा विश्वविद्यालय के मूल संस्थापक रहे हैं तो पहली शताब्दी के तो नही हो सकते, क्योंकि नालन्दा विश्वविद्यालय चीनी यात्रिक फा हीयानि् के आगमन के समय (ई.स.377) तक

बिलकुल विख्यात नही था। और आगे जाकर उन्होंने स्वसमर्थनार्थ लामा[4] तारानाथ इनका आधार लिया है। जिन्होंने आर्य नागार्जुन को राजा नेमिचंद्र का समकालीन बताया है। राजा नेमिचंद्र ईसा की 300 वी शताब्दी में राज करते थे। इसलिए महामहिम विद्याभूषण नागार्जुन का समय ई.सन् 240 से 320 मानते है।

वेंकटरमण इनके अनुसार नागार्जुन का मित्र और समकालीन राजा गौतमीपुत्र सानकर्णी या सातवाहन यही था जिनका शासन इ.सन् 106 से 130 तक था या दूसरे मत के अनुसार ई.सन् 80 से 104 तक था। इसलिए यही समय आर्य नागार्जुन का भी मानना पडेगा।

संस्कृत के प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य राजतरंगिणी (कुल्हणविरचिन) के अनुसार नागार्जुन हुष्क, जुष्क तथा कनिष्क के समकालीन थे। युआन् च्वांग ने भी नागार्जुन को अश्वघोष का समकालीन बताया है जो स्वयं भी सम्राट कनिष्क के समकालीन थे। सम्राट कनिष्क-प्रथम का समय ई.सन् 78 निश्चित रूप से प्रमाणित है तथा सम्राट कनिष्क द्वितीय उनके 89 साल बाद राज गद्दी पर बैठे। इसलिए उनका समय ई.सन् 1996 बनता है। वेंकट रमण का मन्तव्य है कि कनिष्क द्वितीय और सानवाहन गोतमीपुत्र समकालीन हो जाते है। यह भी संभव है कि नागार्जुन बहुत लंबी आयु के कारण न केवल कनिष्क द्वितीय के किन्तु उससे भी पूर्व माने कनिष्क प्रथम के भी समकालीन माने जा सकते है और इसलिए वेंकटरमण आर्य नागार्जुन के समय के बारे में ऐसे निष्कर्ष तक पहुँचते है कि आर्य नागार्जुन तत्त्वज्ञानविषयक कार्य की अवधि ई.स. 50 से ई.स. 920 के दरम्यान का माना जा सकती है।

आचार्य नरेन्द्र देव[5] के अनुसार आर्य नागार्जुन ईसा की द्वितीय शताब्दी के माने जा सकते

---

3. A Histry of Indian Logic By M.M.S. Vidyabhushan. pp. 252
4. Taranath's Geschichte des Buddhismus von Schiefner. pp. 80-83
5. बौद्धधम्म-दर्शन आचार्य नरेंद्र देव-पृ.167,

है। हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर के लेखक विंटरनिट्झ महोदय ने भी आंध्र राजा गौतमीपुत्र और नागार्जुन इन दोनों का समय 166 से 176 ईसवी अर्थात् ईसा की द्वितीय शताब्दी ही बतलाया है। और यह मत महापंडित राहुल सांकृत्यायन का भी युक्तिमुक्त मालूम होता है।

आर्य नागार्जुन के ग्रंथ

आर्य नागार्जुन को कारिका-शैलीका प्रवर्तक कहा जाता है। उनके सभी ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है 'माध्यमिक कारिका'। इस पर उन्हीं की रची हुई 'अकुतोभया' नामक टीका भी थी। लेकिन वह मूल संस्कृत में अनुपलब्ध है। नागार्जुन के अन्य ग्रंथ 'युक्तिष्ठिका', 'शून्यतासप्तति', 'प्रत्तीत्य', 'समुत्पाद ह्रदय', 'प्रमाणविध्वंसन', 'महायानिविंशक', 'उपायकौशल्य' और विग्रहव्यवर्तनी ये है। इनमें से केवल माध्यमिक कारिका तथा विग्रहव्यवर्तनी सिर्फ दो ग्रंथ ही मूल संस्कृत में उपलब्ध है। नागार्जुन द्वारा रचित प्रज्ञापारमिता सूत्र-शास्त्र ग्रंथ का भी बडा बोलबाला था। जो पंचविंशतिसाहास्त्रिका-प्रज्ञापारमिता का भाष्य है। ये महायान के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ समझे जाते थे। नागार्जुन को 'सहल्लेख' का रचयिता कहा जाता है, जिसकी इत्सिंग नामक चीनी यात्रिक ने बडी प्रशंसा की है। यही नागार्जुन का सातवाहन राजा को लिखा हुआ प्रसिद्ध पत्र है जिसमें बौद्धधर्म का नीतियुक्त उपदेश समाया है। इसकी भाषा अत्यंत मनोरम है।

नागार्जुन का मुख्य ग्रंथ माध्यमिक-कारिका है। उनका संप्रदाय भी इसी नाम से विख्यात है माध्यमिक मत क्या होता है यह जानना आवश्यक है। किसी वस्तु के बारे में (1) (भाव) (2) वह है वह नहीं है (अभाव) (3) वह है भी और नहीं भी (4) वह है ऐसा भी नहीं वह नही ऐसा भी नही। इन चारों विधानों से मुक्त होना माने मध्यम मार्ग। इसी को तत्त्वज्ञान की भाषा में 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' विधान कहा जाता है। इस तरह की भूमिका माने माध्यमिक मत है। इन चारों में से किसी भी प्रकार से हम किसी चीज या वस्तु का वर्णन कर नही सकते यह नागार्जुन का अभिप्राय है। सत्य हमेशा इन चारों कोटियों से परे रहता है यह माध्यमिक संप्रदाय का मत है। ये मानते हैं कि उपर्युक्त चार संभावनाओं में से किसी एक प्रकार से वस्तु का वर्णन किया जा सकता है या चारों में से किसी एक प्रकार का विधान किया जा सकता है। आर्य नागार्जुन कहते हैं, कि किसी भी वस्तु के संबंध में इनमें से एक भी विधान निश्चित रूप से करना संभव नही है। इसी विचारधारा का नाम मध्यम मार्ग है।

नागार्जुन का शून्यवाद का सिद्धांत भी एक अनोखा सिद्धांत है। 'शून्यता' का प्रतिपादन उन्होंने 'मूलमाध्यमिक कारिका' में विस्तृत रूप से किया है। इस ग्रंथ का आरंभ करते हुए मंगलचरण में बुद्ध की वंदना करते हुए आर्य नागार्जुन कहते हैं-

"हम उपदेश कुशल परमशास्त्रा महात्मा बुद्ध की वन्दना करते हैं, जिन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया। लौकिक दृष्टि से जो दुःखमय भव-चक्र है, वही पारमार्थिक दृष्टि से परममंगलमय एवं परमानन्दरूप अद्धय तत्त्व है, जहाँ समस्त प्रपंच शांत हो जाते हैं, जहाँ न विरोध है न उत्पत्ति, न नित्य न अनित्य, न एक न अनेक और न आना न जाना।"

अपनी 'विग्रह व्यावर्तनी' को समाप्त करते हुए भी नागार्जुन ने बुद्धवंदना इस प्रकार की है-

यः शून्यतां प्रतीत्य समुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकाथर्मि।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम्।। (वि. व्या. 72)

"जिसने शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और अनेक अर्थोंवाली मध्यमाप्रतिपद् (बीच के मार्ग) को कहा, उस अप्रतिम बुद्ध को प्रणाम करता हूँ।"

यथार्थ में शून्यता के मूल स्रोत हमें त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं, जो बुद्धोपदेश तथा बुद्धवचनों का संग्रह है। नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित 'शून्यता' का तत्त्व या दृष्टिकोण, बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अनित्यता एवं प्रतीत्य-समुत्पाद नामक सिद्धांतों का सहजस्वाभाविक और तार्किक निष्कर्ष है। 'सुञ्ञं' अर्थात् 'शून्य' शब्द का प्रयोग निकायों में बहुशः पाया जाता है-

"यस्मा खो च आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अन्तनियेन वा, तस्मा सुञ्ञा लोको ति बुन्धाति"। महात्मा बुद्ध के बाद शून्यता की व्याख्या विस्तृत रूप से नागार्जुन ने की। अब हम इस शून्यता के विषय में अधिक जानकारी लेंगे।

2.6 आर्य नागार्जुन का दर्शन

2.6.1 शून्यता

आर्य नागार्जुन ने शून्यता की संज्ञा 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को प्रदान की है - उदाहरणार्थ यह कारिका लीजिए। इसमें स्पष्ट रूप से कहा है कि जो प्रतीत्य समुत्पाद है उसी को हम शून्यता कहते है।

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरूपमादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।। (माध्य, कारिका-24/18)

इसी को सरल भाषा में समझाया जाय तो यह कह सकते हैं कि इस बाह्य जगत् में दिखने वाली सभी चीजों या धर्मों को स्वयं का कोई अस्तित्व अर्थात् स्व-भाव नही रहता है। शून्यता का अर्थ नागार्जुन स्वभाव शून्यता ऐसा लेते है। इसका अर्थ है, सभी वस्तुओं का अस्तित्त्व अन्य वस्तु पर निर्भर है। अर्थात् उनका अस्तित्व सापेक्ष है, उनके कारणभूत अन्य वस्तुओं पर अवलंबित है। इसका अर्थ सभी वस्तुएँ-परतंत्र है। उनका खुद का कोई अस्तित्व न होने के कारण वे 'शून्य' हैं। इसी को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नामक प्रक्रिया से समझाया जा सकता है। शून्यता को समझने के लिए पहले प्रतीत्यसमुत्पाद को समझना चाहिए।

2.6.2 प्रतीत्यसमुत्पाद

नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद के दो अर्थ करते हैं -

(1) सभी वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न है इसका अर्थ है, सभी वस्तुएँ किसी न किसी प्रत्यय या हेतु या कारण से उत्पन्न होती है अत्: अपने अस्तित्व के लिए दूसरे हेतू पर आश्रित होती है पराश्रित होती है। इसी पराश्रित उत्पाद या समुत्पन्नता का नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है।

(2) प्रतीत्य का दूसरा अर्थ हैं अतीत्य और उस दृष्टि से प्रत्यय माने अत्यय, यानि नाश। अर्थात् नष्ट होकर उत्पन्न होना। सभी वस्तुएँ क्षण के बाद नष्ट हो जाती है और उनके बाद नई वस्तु या घटना क्षण भर के लिए आती है। अर्थात् प्रत्येक उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह सी है, क्षणिक है। कार्यकारण निरंतर या अविच्छिन्न होते हैं ऐसा महात्मा बुद्ध भी नही मानते थे। एक के माने कारण के विनाश के बाद दूसरे की माने कार्य की उत्पत्ति। एक के प्रत्यय से, माने बीत जाने, नष्ट होने पर दूसरे की उत्त्पत्ति। इस तरह कार्यकारण प्रनियम अविच्छिन्न या निरंतर नहीं, किन्तु विच्छिन्न प्रवाह है। अतः यहाँ पर नित्य, निरंतर, अविच्छिन्न 'आत्मतत्त्व' नामक कोई तत्त्व विद्यमान ही नहीं है। मनुष्य भी प्रतित्यसमुत्पन्न है। उसका अस्तित्त्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा वेदना इन पंचस्कंधों पर निर्भर है। मनुष्य का भी 'स्वभाव या स्वतंत्र, निरपेक्ष अस्तित्व नही है। इसलिए मनुष्य भी स्व-भावशून्य है। नागार्जुन जब 'शून्य' शब्द का प्रयोग बाह्य धर्मों के संबंध में करते हैं तब उनका अभिप्राय 'स्व-भावशून्य' यह होता है। बाह्य जगत् 'शून्य' है ऐसा जब नागार्जुन कहते हैं तब जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जगत् का अस्तित्व सापेक्ष है अर्थात् अन्य कारणभूत वस्तुओं पर आश्रित है। इसलिए संसार की हरेक चीज को स्वतः अस्तित्व या स्व-भाव नही होता। इस

अर्थ में उसे नागार्जुन 'स्वभाव शून्य' कहते हैं। संसार की अपनी कोई सत्ता नहीं है यही उनका अभिप्राय है।

अब हम इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का आकलन कर सकते है कि नागार्जुन शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद, इनको समानार्थक क्यों कहते है। सीधे शब्दों में प्रतीत्य समुत्पाद का मतलब है -

'इसके हाने पर यह होता है।' हरेक उत्पाद का कोई ना कोई (अस्मिन सति इदं भवति- मज्लिम निकाये 4/8) प्रत्यय या हेतु होता है जो खुद बीत जाता है और दूसरे की उत्पत्ति करता है।

संक्षेप में प्रतीत्यसमुत्पाद को उसी प्रकार समझाया जा सकता है जिस प्रकार बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद उस वेला में निरंजना नदी के तट पर बोधिवृक्ष के नीचे सप्ताह भर एकही आसन में बैठकर, उस समाधि से उठने के बाद स्वयं भगवान बुद्ध ने लोगों के लिए अतीत को सरलता से समझाया था।

"इसके होने से यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है, इसके नही होने से यह नही होता, इसके रुक जाने से यह रूक जाता है"

जो, अविद्या के प्रत्यय से संस्कार..... सारा दुःख-समुदाय उठ खड़ा होता है, इसी अविद्या के बिलकुल रूक जाने से संस्कार रूक जाते हैं.....सारा दुःख-समुदाय रुक जाता है।" महात्मा बुद्ध नही दी हुई यह बहुत बड़ी कारण श्रृंखला है जो मानवीय दुख तक पहुंचती है। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार-उससे विज्ञान-विज्ञान से नाम रूप-उनसे छः आयतन-उनके स्पर्श-उससे वेदना-उससे तृष्णा-उससे उपादान-उससे भव-उससे जाति माने जन्म-उससे बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रोना, बेचैनी, परेशानी और दुःख।

सभी वस्तुएँ कारण-समुत्पन्न है, उसी तरह मानवीय दुःख भी किसी न किसी कारणवश ही उत्पन्न होता है। इसलिए उन कारणों को नष्ट करने से या फिर रोकने से दुःख भी नष्ट हो सकता है, या रूक सकता है। इस तरह का आशावाद दिलाने वाला यह प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत है। इसीलिए आर्य नागार्जुन जैसे प्रखर बुद्धिवादी इन्सान को उसका आकर्षण हुआ और उन्होंने उसे अपनाया तथा और विकसित किया। बौद्ध कारणवाद के इस सिद्धांत के अन्दर इन्सान का दुख दूर करने की ताकत है। तथा अपने दुखों के अंत के लिए तरह-तरह की अंधश्रद्धाओं का आश्रय लेने वाले-आम आदमी की सारी गलत सोच को मिटाने की शक्ति इस सिद्धांत में है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि वह हरेक वस्तु या घटना को क्षणिक मानता है, नित्य या निरन्तर मानने से इन्कार करता है। प्रत्येक उत्पत्ति का पूर्व क्षण सदा विलुप्त होता दिखाई देता है। इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य-कारण भाव को क्षणिक या विच्छिन्न-प्रवाह वाला बनवाता है। इसी विच्छिन्न-प्रवाह के सिद्धांत में बौद्ध तत्त्वज्ञान की क्रांतिकारिता समाई है।

इसके विपरीत सभी ब्राह्मणी या वैदिक दर्शन ऐसा मानते है कि सभी प्राणियों के शरीर यद्यपि अनित्य नाशवंत होते है फिर भी उनकी आत्मा अविनाशी, अमर और नित्य है। इस आत्मनित्यतावाद को तितर-बितर करने का सबसे बड़ा शस्त्र था बुद्ध का विच्छिन्न प्रवाह या क्षणिकता का सिद्धांत। प्राणियों के और खासकर मानव-प्राणी के शरीर में आत्मा के लिए तनिक भी स्थान नही है ऐसा बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद कहता है। ब्राह्मणों के आत्मवाद को उन्होंने महा-अविद्या कहा है। उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म या ईश्वर या आत्मा को शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील मानने पर कतई विश्वास न करने वाले महात्मा बुद्ध विश्व के प्रथम धर्मप्रवर्तक थे। जिस सिद्धांत के द्वारा महात्मा बुद्ध ने अनात्मवाद, अनिश्वरवाद एवं क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया उसका पूर्ण रूप से वैज्ञानिक सिद्धांत का ही नाम है प्रतीत्यसमुत्पाद।

संक्षेप में महात्मा बुद्ध के संपूर्ण दर्शन की आधार शिला प्रतीत्यसमुत्पाद है। उन्होंने स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा है, "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखना या साक्षात् करता है, वह धर्म को देखता है।" इसका अर्थ यह हुआ कि महात्मा बुद्ध का धम्म जिसे समझना है उसे सर्वप्रथम आर्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यता को समझना है। वह इस प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है और प्रतीत्यसमुत्पाद समझता है वह चारों आर्य सत्यों को समझ सकता है। चारों आर्य सत्यों को समझने वाला तृष्णा-निरोध को प्राप्त करता है। और तृष्णानिरोध से इन्सान को निब्बान या निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है-जो धम्म का सार है।

अपने 'विग्रहव्यावर्तनी' नामक ग्रंथ में नागार्जुन ने वस्तुशून्यता की सिद्धि करके यह बतलाया है कि वस्तुओं के भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित इस विग्रहव्यावर्तनी का 'माध्यमिक कारिका' के समान ही महत्त्व है क्योंकि इस ग्रंथ की 72 कारिकाओं में से पहली 20 कारिकाओं में आर्य नागार्जुन ने पूर्वपक्षी के शून्यता सिद्धांत संबंधी अक्षेपों को उपस्थित किया है तथा उत्तरार्ध में उनका उत्तर देते हुए शून्यता का समर्थन तथा प्रस्थापना की है। भगवान बुद्ध द्वारा उपदेशित शून्यता को प्रतिपादन करते हुऐ आर्य नागार्जुन अपनी 'माध्यमिक कारिका' में उस सिद्धांत की एक और विशेषता बतलाते है जिसे समझ लेना अनिवार्य है। जो वह जानेगा वही शून्यता का तात्पर्य समझेगा।

2.6.3 परमार्थ और व्यवहार का संबंध

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्य ञ्च सत्यञ्च परमार्थतः।। माध्य. कारिक। 24/8

भगवान् बुद्ध ने दो सत्यों का आश्रय लेकर धर्मोपेदश दिया है, एक है लोकसंवृतिसत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। इन दो सत्यों का अर्थ जानना एक जिज्ञासू के लिए अति आवश्यक है ऐसा आर्यनागार्जुन स्पष्ट रूप से कहते हैं। भगवान् बुद्ध स्वयं सम्यक्-संबुद्धत्व की तथा निबान की परमोच्च् दशा प्राप्त करने के उपरान्त भी सामान्यजनों का, उनके व्यावहारिक जीवन का अनादर नही करते थे इसी में उनकी महानता समायी है। ठीक उसी प्रकार, दार्शनिक पंडित होकर भी आर्य नागार्जुन व्यावहारिक ज्ञान की उपेक्षा करने वालो में से नही थे। इसीलिए अपने ग्रंथ में महात्मा बुद्ध की इस प्रखर मानवतावादी दृष्टि की सराहना करते हुए उन्होंने महात्मा बुद्ध की 'देशना' के दो स्तर स्पष्ट रूप से हमें उपरिनिर्दिष्ट कारिका में दर्शाये है।

1) परमार्थसत्य
2) संवृतिसत्य

इन दो सत्यों का सहारा किस कारण लेना पड़ा इसका प्रयोजन बतलाते हुए नागार्जुन कहते है-

"बिना व्यवहार का आश्रय लिए परमार्थ का उपदेश नही दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण प्राप्ति असम्भव है।" (28-90 माध्य. कनिष्क) यह बहुत बड़ा विचार है जिसे ध्यानि में रखकर महात्मा बुद्ध ओर बोधिसत्त्व नागार्जुन इन दोनों ने लोगों को सत्य के निकट जाने का मार्ग दिखलाया। परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो संपूर्ण बाल्यपदार्थमय सृष्टि शून्य है तथा सब धर्म स्व-भावशून्य है। लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में तो सभी प्राणियों के तरह-तरह के व्यवहार सदियों से चलते आ रहे हैं। और उन व्यवहरों को सभी इन्सान अपनी-अपनी भाषाओं से, कृतियों से निभाते हुए तथा व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। मैं जा रहा हूँ, मैं देखता हूँ, मैं बोलती हूँ इन सबको हम क्या नाम दें? यह सवाल किसी भी सामान्य से सामान्य आदमी के दिमाग में पैदा हो सकता है। इसी शंका का समाधान करने के लिए बुद्धोपदेश का दाखला प्रस्तुत करते हुए आर्य नागार्जुन ने उसे 'संवृतिसत्य' की

उपाधि दी है। संवृत्तिसत्य का अर्थ है लोक-सम्मत। वह भले ही परमार्थ दृष्टि से सत्य न तो फिर भी उसे मान्यता देनी पड़ती है। क्योंकि व व्यावहारिक सत्य है। लोकसंमन दृष्टि से इस जगत् का अस्तित्व है। इसलिए पालिभाषा में जिसे 'सम्मुति-सध्र' कहा है उसका भी उपयोग है। परमार्थ सत्य तक जाने का वही मार्ग है। लौकिक संकेत या लोकसंमत भाषा का प्रयोग किये बगैर परमार्थ सत्य का उपदेश करना असंभव है। यही बात-

'व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते' (माध्य. कारिका 24-90) इस सूत्र द्वारा आर्य नागार्जुन हमारे सामने रखते है। 'शून्यता' जैसा परमार्थतत्त्व बुद्धिव्यापार-अगोचर, मानवी ज्ञानकक्षा के लिए दुर्बोध, सर्वप्रपंच विनिर्मुकन तथा कल्पनाविरहित होते हुए भी, लोकसम्मत व्यवहार के द्वारा, भौतिक पदार्थों की सहायता से ही उसका ज्ञान हो सकता है। इसलिए व्यवहार को सत्य की प्रतिष्ठा देने वाले महात्मा बुद्ध तथा आर्य नागार्जुन महान् प्रतीत होते हैं। इसलिए माध्य कारिका 24/79 में उन्होंने यह निर्णय दिया है-

"यथार्थ में संसार और निर्वाण में कोई अंतर नही है। व्यावहारिक हेतु-प्रत्यय सापेक्षता की दृष्टि से जो संसार के रूप में प्रतीत हो रहा है। वही पारमार्थिक निरपेक्षता की दृष्टि से निर्वाण है।"

"निर्वाण का मतलब है प्राप्ति और हानि, उत्पत्ति और विनाश, बन्धन और मोक्ष् आदि द्वन्द्व रहित ज्ञान का नाम ही निर्वाण है।" (माध्य 24/1-3)

अपने माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन ने यह बात निर्विवाद रूप से हमें समझायी है कि सापेक्षता और सत्य एक साथ नही रह सकते। शून्यता या परमार्थसत्य, इस अस्तित्व-अनास्वितत्व रूपी सविकल्प बुद्धि की सभी कोटियों से ऊपर है। उन्होंने सापेक्षता का मतलब समझाते हुए उसकी आठ मूलभूत कल्पनाएँ या संकल्पनाएँ (Corceptions) बनाई है। ये सारी कल्पनाएँ द्वंद्वात्मक हैं, वे इस प्रकार से है-

निरोध	-	उत्पाद (उत्पत्ति)
उच्छेद	-	शाश्वता
एकार्थता	-	नानार्थता
आगम	-	निर्गम

शून्यवाद के अनुसार हमारी कल्पनाएँ या द्वंद्व पर परस्पर-सापेक्षता से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है और वही हमारे सारे गलत निर्णय तथा पूर्वग्रहों की और उनसे उत्पन्न होने वाली उत्कंठाओं तथा दुखों की जड़ है। इसलिए सबने कहा हम परमार्थ-सत्य रूपी शून्यता के अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकेंगे जब तक हम इन विकल्पों को पूर्ण रूप से फेंक नहीं देते। इसीलिए पूरे प्रपंच के दुखों से उपशम यदि चाहते हो, तो शून्यता का दृष्टिकोण अपनाओं। इसी अवस्था को नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद माने एक तरह से दुखों की कारणमीमांसा कहते है और उस अवस्था का वर्णन आठों विकाल्पों के या द्वंद्वों के अभाव रूप विशेषणों से करते हैं। वह इस प्रकार-

अनिरोधमनुत्पादम् अनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थमनानार्थम् अनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपच्चोपशमं शिवम्

देशयामास सम्बुद्धसां वन्दे वदतां वरम्।। माध्यकारिका I इस पद्य का अनुवाद इसके पूर्व हम दे चुके हैं। इसी अवस्था का वर्णन अन्य बौद्ध ग्रंथों में 'सथता' या 'परमार्थ' इन शब्दों से भी किया गया है और नागार्जुन के प्रस्तुत दर्शन के अनुसार उसी का नाम 'शून्यता' है।

आर्य नागार्जुन के शून्यता सिद्धांत की महत्ता का एक और प्रमाण इस देश के अंदर मौजूद है। वह यह की अद्वैत-वेदना दर्शन के संस्थापक तत्त्वज्ञ आद्यशंकराचार्य दसवीं शताब्दी शून्यवाद से बडे ही प्रभावित हुए थे। शंकराचार्य के गुरू गोविन्दाचार्य इनके गुरू

गौडपादाचार्य थे। उन्होंने अपने ग्रंथ में कई स्थानों पर भगवान् तथागत बुद्ध के चरणों में वंदन करते हुए अध्यायों का प्रारंभ किया है। बौद्ध नागार्जुन के शून्यवाद को ही शंकराचार्य ने ब्राह्मणी मायावाद के नाम का लिबास पहनाया (ब्रह्म सत्यं, जगन्थिथ्या) इसीलिए बहुत से दार्शनिक शंकाराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' इस नाम से पुकारते हैं। अर्थात् दोनों के दर्शनों में मूलभूत अंतर यह था की वेदान्ती शंकराचार्य यद्यपि बाहरी दुनिया को अनित्य मानने के लिए तैयार थे लेकिन उसके भीतर एक नित्यतत्त्व की उन्हे खोज थी। आत्मा या ब्रह्म की कल्पना करके उसे अपरिवर्तनीय सनातन तत्त्व के रूप में स्थापन करने के वेदांती, बौद्ध दर्शन के सबसे बड़े विरोधक रहें। इसी से, शून्यवाद के प्रवर्तक आर्य नागार्जुन का प्रभाव हमारे देश मे, आज से 1800 साल पहले किस तरह फैला होगा इसका अंदाज हम लगा सकते हैं।

शंकराचार्य ने जगत को मिथ्या साबित करने के लिए जिस मायावाद के सिद्धांत-प्रतिपादन में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया, उसके लिए उन्हें अपने दादा गुरू गौड़पादाचार्य के मतों और नागार्जुन आदि के शून्यवाद का सहारा लेना पड़ा। गौड़पादाचार्य पहले बौद्ध थे और बाद में वेदान्ती हो गये थे। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मायावाद का सिद्धांत इसका प्रमाण है जिसकी स्थापना वे शून्यवाद और बौद्ध दार्शनिकों की तार्किक पद्धति का सहारा लिए बिना नहीं कर सकते थे।इसीलिए उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाने का दंश भी झेलना पड़ा।

2.7 सारांश

आर्य दिङ्नाग और आर्य नागार्जुन के क्रमशः प्रमाण–समुच्चय और प्रतीत्य–समुत्पाद सिद्धांत बुद्ध के प्रत्यक्ष और अनुमान इस सिद्धांत का तथा प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के कारण कार्य भाव का ही प्रत्यक्ष प्रतिपादन है। मानव जीवन में इन दो सिद्धांतों को अपनाएं जाने से आने वाले परिवर्तन की ओर इन दोनों ही बौद्ध दार्शनिकों ने अतीशय महत्वपूर्ण सिद्धांत दिए है। ज्ञान के क्षेत्र में जो क्रांति 'कान्ट' द्वारा (1724–1804) अठारवीं भाताब्दी में की थी, वही विचार क्रांति दिङ्नाग ने पाँचवी शताब्दी में की है। यदि दिङनाग के सिद्धांत को मानव जीवन में में इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यदि 'यह व्यक्ति' कहा जाए तो यह प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर निश्चित हो जाता है। अर्थात् यह सत्य है उसके लिए प्रमाण ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम यह कहें कि 'यह व्यक्ति ब्राह्मण है,' यह अनुमान ज्ञान है अर्थात् असत्य है। क्योंकि ब्राह्मण होने के कारण को हमें जाँचना होगा यह अनुमान मात्र है। व्यक्ति के जाति आधारित अर्थात् जन्म आधारित पहचान के प्रमाण को असत्य–मिथ्या ही माना जाना चाहिए। अनुमानांतर्गत विचार प्रक्रिया के आधार पर वर्ण श्रेष्ठता की मान्यता दी गई है। बुद्ध दर्शन के अनुसार सभी मानव एक प्रक्रियान्तर्गत जन्म लेते हैं और उनके अस्तित्व का एक ही कारण है, तब उच्च–निम्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। आर्य नागार्जुन ने प्रतीत्य–समुत्पाद सिद्धांत द्वारा बुद्ध के इसी दर्शन को तर्कनिष्ठ दृष्टि से देखा और प्रतिपादित किया। मनुष्य के जन्म के कारण को यदि हमे विज्ञानवादी दृष्टि से समझ सकेंगे तभी इस श्रेष्ठ–कनिष्ठ के विषमतावादी विचार की सही आलोचना करके समतावादी दृष्टि को विकसित कर सकेंगे।

आर्य दिङनाग और आर्य नागार्जुन के उपरोक्त वर्णीत दोनों सिद्धांतों के प्रतिपादन का उद्देश्य स्पष्ट है कि वैदिक ब्राह्मणवाद ने जिस चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की निर्मिति द्वारा लोक में विषमता, भेदभाव, छुआछूत, गुलामी और अभाव का वातावरण निर्मित करके मानव जीवन को त्रासदी में ढकेला है। उस ब्राह्मणवादी विचार को जो मानव निर्मित है तथा प्रत्यक्ष प्रमाणविहीन तथा कारण कार्य भाव के विरोधी रूप में निर्मित है, को विज्ञानवाद और तर्कवाद के सक्षम सिद्धांतों द्वारा अवांछित घोषित किया गया। मानवतावादी, समतावादी तथा न्यायवांदी सिद्धांत के प्रतिपादन द्वारा दुःख के निवारण का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

इकाई 3 असंग और वसुबंधु

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 आर्य असंग : जीवन परिचय एवं रचनात्मक योगदान

- 3.2.1 आर्य असंग की ग्रंथ संपदा
- 3.2.2 आर्य असंग के दार्शनिक विचार
- 3.2.3 अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

3.3 आर्य वसुबंधु : जीवन परिचय एवं रचनात्मक योगदान

- 3.3.1 आर्य वसुबंधु की ग्रंथ संपदा
- 3.3.2 आर्य वसुबंधु की रचनाओं का विश्लेषण

3.4 सारांश

3.0 उद्देश्य

'भारत की चिंतन परंपराएँ और दलित साहित्य' के पहले खंड की यह तीसरी इकाई है। बौद्ध दार्शनिक असंग और आर्य वसुबंधु के बौद्ध चिंतन में अतुलनीय योगदान को रेखांकित करने वाले इस पाठ में आप आर्य असंग तथा उनके अनुज आर्य वसुबंधु के दर्शन से परिचित हो सकेंगे। भारतीय बौद्ध दर्शन को अपने विकास के चरम पर पहुँचाने का प्रयास इन दो आचार्य भाइयों ने किया है। बड़े भाई असंग ने 'योगाचार भूमि', 'उत्तरतंत्र' जैसे ग्रंथों द्वारा विज्ञानवाद का समर्थन किया। छोटे भाई वसुबंधु की प्रतिभा भी बहुमुखी थी, उन्होंने एक ओर वैभाषिक–सम्मत तथा बुद्ध के दर्शन से बहु–सम्मत अपने सर्वोत्तम ग्रंथ अभिधर्मकोश तथा उसका भाष्य लिखा। आर्य असंग के काम को ही सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिकों के सामने प्रस्तुत किया। उनके अन्य ग्रंथों में 'वाद–विधान नामक' न्याय ग्रन्थ भी सम्मिलित है। नागार्जुन की पैनी दृष्टि से मिली प्रेरणा का यह विस्तार था। भारतीय मध्ययुगीन न्याय के पिता के नाम से जाने जाते दिङ्नाग के दार्शनिक विचारों को पढ़ाकर अब तक के किये गये प्रयत्न को एक सुनिश्चित दिशा की ओर ले जाने में कामयाब हुए। आइये अब इस इकाई का पाठावलोकन ध्यानपूर्वक करते हैं। इसके पाठावलोकन के बाद आपः–

- आर्य असंग तथा आर्य वसुबंधु द्वारा लिखित ग्रंथों के मूल उद्देश्य को जान सकेंगे;
- बुद्ध दर्शन के क्षणिकवाद को समझ सकेंगे;
- आचार्य असंग और आचार्य वसुबंधु के दार्शनिक विचारों से परिचित हो सकेंगे;
- गंधार देश बुद्ध दर्शन के महायान पंथ का गढ़ बन चुका था और विज्ञानवाद के दर्शनकार असंग इसके प्रमुख प्रवर्तक थे, इसे आप जान सकेंगे;
- असंग ने बौद्ध क्षणिकवाद को विज्ञानवादी दर्शन के आलोक में चरम सीमा तक पहुँचाया, इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे;

- असंग के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत को समझ सकेंगे;
- स्वतंत्र विचारक आर्य वसुबंधु के प्रतिभा संपन्न दार्शनिक विचारों से अवगत हो सकेंगे;
- विज्ञानवादी दृष्टि अपनाकर वसुबंधु द्वारा भारतीय तर्कशास्त्र की औपचारिक परंपरा की नींव डालने के उद्देश्य से परिचित हो सकेंगे;
- विज्ञानवादी आचार्यों द्वारा वसुबंधु की स्थापनाओं को अपनाने औरं उद्धरण देकर खंडन करने की परंपरा से अवगत हो सकेंगे;
- यथास्थितिवाद के विरोध में प्रवर्तित प्रगतिशील विचारधारा को 'अभिधर्मकोष' द्वारा नया आयाम देने वाले वसुबंधु के प्रगत विचारों की समीक्षा कर सकेंगे;
- विपक्ष के आलोचकों के समृद्ध और प्रगत विचारों को अपनाने की वसुबंधु की उदारता से अवगत हो सकेंगे; और
- तत्कालीन समाज में व्याप्त भेदभाव, दासता और वर्ण–व्यवस्था के आचार्य असंग द्वारा खंडनात्मक प्रतिरोध को रेखांकित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

आर्य असंग और आर्य वसुबंधु के दार्शनिक योगदान के कारण भारत में बौद्ध दर्शन अपने विकास के चरम पर पहुँच गया था। बड़े भाई असंग ने 'योगाचार भूमि', उत्तरतंत्र जैसे ग्रंथों को लिखकर विज्ञानवाद का समर्थन किया। इन ग्रंथों का महत्व इसलिए है कि इन्होंने बुद्ध के दर्शन विज्ञानवाद–क्षणिक विज्ञानवाद की ही व्यावहारिक व्याख्या की हैं। प्रस्तुत इकाई में हम आर्य असंग के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करेंगे। आर्य असंग के अनुज आर्य वसुबंधु के 'अभिधर्मकोष' में प्रस्तुत बुद्ध के मंतव्य का लोक में प्रसार करके लोक कल्याण की भावना को समझने में हमें आसानी होगी। उनके जनकल्याण की भावना को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'द्वितीय बुद्ध' की उपाधि से नवाजा है। उनके शास्त्रार्थ में निपुणता का उदाहरण उनके विषय दिङ्नाग के शास्त्रार्थ और अविर्भाव का वर्णन कालिदास ने अपनी रचना अभिज्ञान शांकुतलम में किया है कि जब दिङ्नाग शास्त्रार्थ करने के लिए खड़े होते तो दाहिने हाथ में 'अभिधर्मकोष' थामकर बाए हाथ को इस प्रकार फटकारते थे कि उनसे वाद–विवाद करने वाले अन्य धर्मों के दार्शनिक विस्मयित होकर उन्हें निहारते रहते। कालिदास द्वारा लिखित अभिज्ञानशांकुतलम का श्लोक यहाँ आपके अध्ययन हेतु दिया जा रहा है–

'दिङ्नागानां पथि परिहरन स्थूल हस्तावलेपान् (मेघदूत 1/14)'

गंधार (पेशावर) देश से भारत आये इन दो बंधुओं का बौद्ध दर्शनशास्त्र को दिया योगदान अवर्णनीय और लोकोपयोगी सिद्ध हुआ है। आचार्य राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार 'हम असंग के दार्शनिक विचारों को उनकी 'योगाचार भूमि' के आधार पर देखते हैं। स्मरण रहे वसुबंधु ने अपने 'अभिधर्मकोष' ग्रंथ में अपने बड़े भाई असंग के मार्ग को अपनाते हुए बुद्ध के दर्शन से बहु–सम्मत अपने सर्वोत्तम विचार प्रस्तुत किए। विज्ञानवाद के संबंध में विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिकी विंषिका और त्रिंषिका लिखकर बड़े भाई के कार्य को सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिकों के समक्ष प्रस्तुत किया। दिङ्नाग जैसे विषय को ज्ञान देकर बुद्ध धम्म दर्शन के एक बड़े प्रवाह के रूप में ले जाने के लिए तैयार किया। निश्चित ही इसे उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि कहा जा सकता है। इनकी विद्वता से प्रभावित होकर अयोध्या के सम्राट चन्द्रगुप्त सांख्य मत छोड़कर बौद्ध मत के अनुयायी हो गये थे। आचार्य कमलशील जैसे विद्वान आचार्यों ने इनके विद्वता की प्रशंसा की है। वसुबंधु ने न केवल बौद्ध परम्परा पें अभिधर्म और योगाचार दर्शन को एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध स्वरूप प्रदान किया, साथ

ही हेतुविद्या, वादविधि और प्रमाण व्यवस्था को निश्चित भूमि प्रदान करने में भी बड़ी भूमिका का निर्वाह किया। बाद में धर्मकीर्ति और ईश्वरसेन जैसे बौद्ध दार्शनिकों ने आचार्य वसुबंधु की रचनाओं के भाष्य लिखकर इसे और अधिक स्पष्टता दी।

'योगाचार–भूमि' कोई सुसंबद्ध दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, वह बुद्धघोष के 'विसुद्धि मग्न' (विशुद्धिमार्ग) की भांति ज्यादातर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्व का विस्तृत विवेचन है। विज्ञानवाद के प्रवर्तक के रूप में आप असंग के विज्ञानवादी तत्वज्ञान (दर्शन) को गहराई से समझकर उसकी व्याख्या तथा विश्लेषण कर सकेंगे। आइए प्रस्तुत इकाई के अवलोकन, अध्ययन द्वारा बौद्ध दार्शनिक आर्य असंग एवं आर्य वसुबंधु के दार्शनिक विचारों को ग्रहण करें।

3.2 आर्य असंग : जीवन परिचय एवं रचनात्मक योगदान

आर्य असंग का जन्म चौथी सदी में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में गंधार देश की राजधानी पुरूषपुर (आधुनिक पेशावर) में हुआ था। असंग, वसुबंधु और विरंचि तीनों भाई थे, असंग और वसुबंधु महान दार्शनिक थे। सबसे छोटे विरंचि अपने दोनों बंधुओं की तरह ही भिक्षु हुए, पर उनकी ख्याति अपने काल में एक महान संत (अर्हत्) के रूप में ही रही।

गंधार देश सिन्धु नदी के पूर्व और पश्चिम में फैला हुआ था। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला थी जो अपने महत्व को असंग के जन्म से कई शताब्दियाँ पूर्व खो चुकी थी। पुरूषपुर सम्राट कनिष्क (राज्याभिषेक 78 ई.) की मुख्य राजधानी होने के कारण एक वैभवशाली महान् नगरी के रूप में परिवर्तित हो चुका था। पुरूषपुर में कनिष्क के बनवाये महाविहार की प्रशंसा चीनी पर्यटकों ने की है। कनिष्क के समय से असंग–वसुबंधु के समय तक पुरूषपुर विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था।

असंग से पहले गंधार मूल सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) संप्रदाय का गढ़ था। उनके अनुज वसुबंधु ने "अभिधर्मकोष" की रचना में उसी संप्रदाय का समर्थन किया। लेकिन असंग की शिक्षाओं से गंधार महायान के विज्ञानवाद दर्शन का गढ़ बन गया था। लेकिन उन्हें विज्ञानवादी दर्शन फैलाने में काफी विरोध का सामना करना पड़ा। असंग और ग्रीक दार्शनिक अफलातून के दर्शन में अद्‌भूत साम्य होने की बात को राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा मान्य किया गया है। असंग ने बौद्ध क्षणिकवाद को जोड़कर विज्ञानवादी दर्शन को चरम सीमा तक पहुँचाया। विशेष रूप से यह बताना जरूरी है कि इस संप्रदाय को 'योगाचार' नाम पड़ने के कारण आर्य असंग का महानग्रंथ 'योगाचारभूमि' है। इसलिए वे योगाचार दर्शन के प्रथम आचार्य कहलाते हैं। बौद्ध दर्शन को एक नवीन दिशा प्रदान करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। असंग के वैयक्तिक जीवन संबंधी जानकारी प्राप्त नहीं होती लेकिन उनके विचारों पर विपुल सामग्री उपलब्ध है। असंग की 31 पुस्तकें चीनी और तिब्बती अनुवादों के रूप में सुरक्षित हैं। उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ "योगचर्याभूमि' (योगाचारभूमि) के चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। उनका यह ग्रंथ महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन जी ने महाप्रयास से तिब्बत में प्राप्त किया और उसे उतारकर उसकी प्रतिलिपि वे अपने साथ भारत ले आए (पांच बौद्ध दार्शनिक से उद्‌धृत पृ. 40)

3.2.1 आर्य असंग की ग्रंथ संपदा

असंग की 31 इकत्तीस कृतियां तिब्बती और चीनी भाषा में अनुदित है। इनके अधिकतर ग्रंथ विज्ञानवाद के मौलिक ग्रंथ हैं और तीन टिकाएं इसी दर्शन संबंधी ग्रंथों की प्राप्त होती है।

ग्रंथ का नाम	समय
■ महायान (विज्ञानवाद)	
1. मूल ग्रंथ	
1. अभिधर्मसमुच्चय	806 ई.
2. आर्यवाचाप्रकरण	645–47
3. धर्मकार्यगुणस्त्रोत्र	806 ई
4. धर्मानुस्मृति	
5. धर्मानुप्रदीपोपदेश	
6. ध्यानव्यवहार	703 ई
7. बुद्धानुस्मृति	1070ई.
8. मध्यांतानुगम	543 ई.
9. महायानसंग्रह	806 ई.
10. महायानसंपरिग्रहशा	563 ई.
महायानसंपरिग्रहशा	531 ई.
महायानसंपरिग्रहशा	648–49
11. महायानामिधर्मसंगीति	652 ई.
12. योगचर्याभूमि	1080 ई.
योगाचार	646–647
13. योगपर्यायसंग्रह	
14. योगबोधिसत्वभूमि	806 ई
15. योग वस्तुसंगह	806 ई.
16. योग विनयसंग्रह	806 ई.
17. योग विनिश्चयसंग्रह	806 ई.
18. योग विवरणसंग्रह पार	806 ई.
19. योग श्रावकभूमि	806 ई.
20 वज्रच्छेदिका प्रज्ञापरिमिता गाथा	
21. योगशा	
22. योग व्याख्या	
23. शालिस्तम्बकारिका	0
24. संधानुस्मृति	1080
2. टीका	
25. महायोनोत्तरतंत्रव्याख्या	
26. संधिनिर्मोचर टीका	806 ई
27. सूत्रलंकारटीका	930–33 ई0

- **वज्रयान**

1.	कुरुकुल्लसाधन	1200 ई.
2.	प्रज्ञापारमितासाधन	1200 ई.
3.	बलिविधि	
4.	मैत्रेयसाधन आर्य	

(प्रस्तुत सूची : राहुल सांस्कृत्यायन की रचना 'पाँच बौद्ध दार्शनिक' से साभार)

ये ग्रन्थ राहुलजी को तिब्बती, चीनी और जापानी अनुवादों तथा वहां के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहों में प्राप्त हुए हैं। योगाचार भूमि शास्त्र और महायानों त्तरतंत्र मूल संस्कृत में भी तिब्बत में मिले हैं। महायान सूत्रालंकार असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना समझी जाती है। बौद्ध दर्शन में असंग की योगाचार भूमि को इतना महत्व प्राप्त हुआ कि तब से विज्ञानवाद को योगाचार दर्शन के नाम से जाना जाता है।

3.2.2 आर्य असंग के दार्शनिक विचार

असंग क्षणिक विज्ञानवादी थे। इनका विज्ञानवाद बुद्ध के "सुब्बं अनिच्चं" (सब अनित्यौ) या क्षणिकवाद का विज्ञानवाद के साथ मिश्रण मात्र है। विज्ञानवाद विज्ञान को परमार्थ तत्व मानता है। पाँच इन्द्रियों के पांच विज्ञानों तथा छठे मन–विज्ञान के अतिरिक्त एक सातवें आलयविज्ञान को मानता है। यही आलयविज्ञान वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगों की भांति विश्व की सारी जड़ चेतन वस्तुएं प्रकट और विलीन होती रहती है। इस प्रकार विज्ञान–समष्टि को आलय विज्ञान कहते हैं। इस विश्वविज्ञान या आलय विज्ञान से जैसे जड़ जगत् उत्पन्न हुआ। उसी तरह वैयक्तिक विज्ञान (प्रवृत्ति विज्ञान) पांचों इन्द्रियों के विज्ञान और छठा मन पैदा हुआ। इनके अनुसार दो आवरणों की निवृत्ति में मोक्ष लाभ कर सकता है। विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। जहां जो वस्तु नहीं रहती है, वहां उसका उपचार होता है। इस जगत् में न आत्मा है न धर्म, परन्तु इसके उपचार अनादिकाल से वर्तमान है। स्वरूप नहीं है। इसका दूसरा नाम आलय विज्ञान है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है अतः इस जगत् में विज्ञाप्ति मात्रता की सिद्धि होती है। सिद्धांतः विज्ञानवादी होने पर योग तथा आचार को अत्यधिक महत्व देने के कारण ये योगाचार कहा जाता है।

योगाचार भूमि के मनोभूमि–1 के अनुसार और महामना राहुल सांस्कृत्यायन के द्वारा लिखित पांच बौद्ध दार्शनिक में बताई गई व्याख्या के अनुसार – इसे कोई दूसरा नहीं जन्मता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है। प्रत्यय के होने पर भाव (वस्तुएं) पुराने नहीं, बिल्कुल नये–नये जन्मते हैं ..... प्रत्यय के होने पर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न स्वरस (स्वतः) ही क्षणभंगुर है।" (पांच बौद्ध दार्शनिक, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ. 47) आर्य असंग ने महायान सूत्र की गाथाओं में बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत अनित्यवाद (क्षणिकवाद) की ही विशद व्याख्या की हैं। क्षणिक के अर्थ को लेकर प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में उन्होंने क्षणिकवाद से ही प्रतीत्यसमुत्पाद के सूत्र को ग्रहण किया। क्षणिकवाद इति प्रतीत्यसमुत्पाद 'प्रत्यय इत्वराज्ययसंगत क्षणिकार्थ मधिकृत्य'।

प्रतीत्यसमुत्पाद का सरल अर्थ बताते हुए असंग कहते हैं– एक वस्तु के समाप्त होने पर दूसरी की उत्पत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। गतिशील प्रत्यय के विनाश अर्थात् नष्ट होने से दूसरी वस्तु का निर्माण। 'इसके होने के बाद यह होता है', 'इसके उत्पाद से यह उत्पन्न

होता है।' यदि हमने अच्छा कार्य किया तो परिणाम वह भी वर्तमान में अच्छे ही आएंगे। जहाँ पहला कारण समाप्त होगा वहीं पर दूसरे का निर्माण तय है, इसे ही प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। आत्मा के अस्तित्व को इसी सिद्धांत के आधार पर भगवान बुद्ध ने नकारा है। वस्तुएं प्रतिक्षण नये–नये रूप में जीवन–यात्रा करती है। अतः आत्मा की सत्ता को इसी आधार पर अस्वीकार किया जाना चाहिए। वह अनित्य नहीं है सदैव नये रूप में परिवर्तित होने वाली वस्तु को हम उसके अस्तित्वहीनता के आधार पर नकार सकते हैं। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत है।

3.2.3 अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धांत अनित्यवाद के अर्थ को लेकर प्रतीत्य–समुत्पाद कहते हैं। असंग ने क्षणिकवाद शब्द से प्रतीत्य समुत्पाद को स्वीकार किया है। इस शब्द का अर्थ करते हुए असंग कहते हैं– "प्रत्यय इत्वरात्ययसंगत (उत्पाद प्रतीत्यसमुत्पाद) क्षणिकार्थ मधिकृत्य" (योगाचार भूमि 3,4,5) भाव यह है कि प्रतिगमन करके (एक चीज को समाप्त करके दूसरी की उत्पत्ति प्रतीत्य समुत्पाद है,) जो श्रणिकार्थ मधिकृत्य (योगाचार भूमि 3,4,5) भाव यह है कि उत्पत्ति प्रतीत्य समुत्पाद है, जो क्षणिक के अर्थ को लेकर होता है। इसके होने के बाद यह होता है।

इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नहीं। पहली के नष्ट विनष्ट होने पर उत्पाद इस अर्थ में।

अनित्य, दुख शून्य और नैराश्य (नित्य आत्मा की सत्ता का अस्वीकार करना) के अर्थ में होने से भगवान बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद के बारे में कहा है– अर्थात् वस्तुएं प्रति क्षण नये नये रूप में जीवन यात्रा (प्रवृत्ति) करती हैं। प्रतीत्य समुत्पाद क्षण भंगुर है।

'प्रतिक्षणं च नव लक्षणानि प्रवर्तन्ते।
क्षणभंगुरश्च प्रतीत्य–समुत्पादः।'

आर्य असंग ने "योगाचार भूमि " में दूसरों के मतों का खंड न करते हुए अपने मतों को प्रस्तुत किया एवं मतों का खंडन किया है उनके ग्रंथ है–

क) हे तुफसद्भाव

ख) अभिव्यक्तिवाद

ग) आत्मवाद

घ) ईश्वरादि कर्तत्वाद

ङ) हिंसा धर्मवाद

च) नास्तिकवाद

छ) अग्रवाद

ज) शुद्धिवाद

झ) कौतुकमंगलवाद

इन वादों के खंडन से तत्कालीन सामाजिक स्पृश्य, अस्पृश्य, छुतछात, भेदभाव, जातिप्रथा, सवर्ण, अवर्ण आदि कुरीतियों का दिग्दर्शन होता है। इन सब वादों में से कुछेक वादों पर चर्चा करते हैं जिन पर आचार्य ने उनका खंडन कर अपना स्वाभिमत दिखाया है जिनसे यह ज्ञात होता है कि आचार्य स्वयं इन कुरीतियों के खिलाफ थे। सबसे पहले हम देखते हैं अग्रवाद के बारे में।

अग्रवाद–ब्राह्मण ही अग्र उच्च श्रेष्ठ वर्ण हैं, दूसरे वर्णहीन हैं, ब्राह्मण शुक्ल वर्ण हैं, दूसरे वर्ण हैं, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं, ब्राह्मण शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण ब्रह्मा के औरस पुत्र मुख से उत्पन्न ब्रह्मज, इस पर आचार्य असंग लिखते हैं–

ब्राह्मण भी दूसरे वर्णो की भांति प्रत्यक्ष मातृ योनि से उत्पन्न हुए देखे जाते हैं (फिर ब्रह्मा का औरस पुत्र कहना ठीक नहीं) अतः "ब्राह्मण अग्रवर्ण है" यह कहना ठीक नहीं। क्या योनि से उत्पन्न होने के ही कारण ब्राह्मण को अग्र मानते हो, या उसमें विद्या और संदाचार की भी जरूरत समझते हैं?

यदि जन्म योनि से ही मानते हो, तो यज्ञ में श्रुत–प्रधान शील–प्रधान ब्राह्मण के लेने की बात क्यों करते हो? यदि श्रुत (विद्या) और शील सदाचार को मानते हो, तो ब्राह्मण श्रेष्ठ वर्ण है, कहना ठीक नहीं। वर्णश्रेष्ठता की मिथ्या, तर्कहीन, अवैज्ञानिक प्रस्तुति का आर्य असंग अपने विचार तर्क से खंडन करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जाति को जन्म से नहीं अपितु कर्म व्यवस्था से स्वीकारना चाहते हैं। इसलिए वह शील, सदाचार विद्या आदि का तर्क प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः हमारी प्राचीन परम्परा यही दर्शाती है कि जन्म से नहीं अपितु कर्म से जाति व्यवस्था स्वीकारनी चाहिए।

इसी प्रकार शुद्धिवाद पर चर्चा करते हुए कि गंगा यमुना कावेरी नर्मदा आदि नदियों में स्नान कर लेने मात्र से ही शुद्धि नहीं होती, अपितु शुद्धि को आध्यात्मिकता से जोड़ते हुए वे तीर्थ स्नान से कैसे हो सकती है के प्रबल पक्षधर दिखलाई पड़ते हैं। इसी प्रकार 'कौतुकमंलवाद' पर चर्चा करते हुए जो लोग सूर्य आदि की पूजा करते हैं, ज्योतिषियों को ही अपना विश्वासपात्र मानते हैं – इस पर आचार्य व्यंग्य करते हुए लिखते हैं– आप सूर्य–चन्द्र ग्रहण आदि के कारण पुरूष की संपत्ति को घटने–बढ़ने का कारण मानते हैं या उसके अपने अच्छे–बुरे कर्म से यदि ग्रहण आदि से तो शुभ–अशुभ कर्म घटते या बढ़ते हैं तो यह कहना ठीक नहीं। असंग ने अपनी तर्कशक्ति के आधार पर ब्राह्मणवाद द्वारा फैलाएं अंधविश्वासों का प्रखर शब्दों में विरोध दर्शाया है।

आचार्य असंग ने स्कंध, द्रव्य, परमाणु के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं। जैसे कि 'घरमाणु' के संबंध में वे लिखते हैं– बीज की भांति परमाणु रूपी सारे स्थूल द्रव्यों का निर्माण करते हैं, वह सूक्ष्म और नित्य होते हैं। असंग मानते हैं कि परमाणुओं की निर्मिति सूक्ष्म और नित्य होती हैं। असंग परमाणुओं की सत्ता का खंडन करते हैं। परमाणु के संचय से रूप समुदाय नहीं तैयार हो सकता क्योंकि परमाणु के परिमाण, अन्त, परिच्छेद का ज्ञान बुद्धि कल्पना पर निर्भर है, प्रत्यक्ष पर नहीं। परमाणु अवयव रहित हैं, फिर वह सावयव द्रव्यों का निर्माण कैसे कर सकता। अतः बौध दार्शनिक परंपरा में आर्य असंग का विशेष महत्व है।

3.3 आर्य वसुबंधु : जीवन परिचय एवं रचनात्मक योगदान

आर्य वसुबंधु महान् बौद्ध दार्शनिक आर्य असंग के अनुज (छोटे भाई) हैं, उनका स्थान बौद्ध दार्शनिकों में असंग से भी ऊँचा है। भारतीय ग्रंथों के महान् अनुवादक कुमारजीव ने लगभग 401 ई. में चीनी भाषा में वसुबंधु की जीवनी लिखी थी, लेकिन वह बाद के समय में लुप्त हो गयी। लेकिन परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबंधुचरित' आज भी चीनी भाषा में उपलब्ध है। वसुबंधु अपने जीवन काल में बहुत समय तक अयोध्या (साकेत) में रहे और वहाँ के राजा के पुत्र और रानी ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। प्रख्यात कवि वामन कृत 'काव्यालंकार' में वसुबंधु का एक श्लोक उद्धत किया है वह इस प्रकार है–

सोडयं सम्प्रति चन्द्रगुप्त–तनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृताधियां दिष्ट्रया कृतार्थश्रमः।।

(पांच बौद्ध दार्शनिक, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ. 60)

वसुबंधु ने 375–415 ई. तक अयोध्या में रहकर आचार्य बुद्धमित्र के पास अध्ययन किया था। आर्य असंग और आर्य वसुबंधु आरम्भ में सर्वास्तिवाद की महशासक शाखा के अनुयायी थे, बाद में महायान में दीक्षित हुए तथा वसुबंधु मध्यदेश के भिन्न–भिन्न विहारों में रहे और अनेक ग्रंथों का लेखन किया। उनके अग्रज असंग के बुलाने पर वे गंधार देश चले गए और वही रहते हुए उनके संपर्क में वैभाषिक के योगाचार मत में सम्मिलित हुए। वे अस्सी वर्ष तक जीवित रहे।

3.3.1 आर्य वसुबंधु की ग्रंथ संपदा

आर्य वसुबंधु ने वैभाषिक सिद्धांतों का सम्यक प्रतिपादन करने के लिए 'अभिधर्मकोष' की रचना की थी, जिसे उन्होंने आठ परिच्छेदों में लिखा है जिनके विषय निम्न प्रकार से हैं–

1. धातु निदर्श
2. इन्द्रिय निदर्श
3. लोकधातु निदर्श
4. कर्म निदर्श
5. अनुशय
6. आर्यमार्ग
7. ज्ञान
8. ध्यान

महामना आचार्य राहुल सांकृत्यायन के अनुसार "यह हीनयान के सभी निकायों का सम्मिलित ग्रंथ है। वसुबंधु ने स्वतंत्रता दिखलाई है, वह 'अभिधर्मकोष' की 595 कारिकाओं में नहीं, बल्कि उसके भाष्य में ही। अपने ग्रंथ की अन्तिम कारिका में उन्होंने लिखा है–

काश्मीर–वैभाषिक–नीति–सिद्धः, प्रायो मयायं कथिताभिधर्मः।
यद् दुर्गहीतं तदिहास्मदागः, सद्धर्मनीतौ मुनयः प्रमाणम्।।

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने कश्मीर के वैभाषिक मत के अनुसार इस ग्रंथ का प्रणयन किया।" (पांच बौद्ध दार्शनिक, पृ. 61) आर्य वसुबंधु सभी अठारह निकाय के तथा महायान के दार्शनिक सिद्वांतों के अद्वितीय ज्ञाता थे, इस बात की पुष्टि उनकी रचनाएं स्वयमेव है। उनकी रचनाओं के माध्यम से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वे एक स्वतंत्र विचारक एवं प्रतिभासंपन्न दार्शनिक थे।

आर्य वसुबंधु की ग्रंथ रचना में सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'अभिधर्मकोष' है, इसके अतिरिक्त 'कर्मसिद्धि प्रकरण', 'त्रिरचभावनिर्देश', 'विज्ञप्रिमात्रतासिद्धि' नाम से 30 कारिकाओं (त्रिंशिका) और 20 कारिकाओं (विंशिका) के नाम से दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। आचार्य राहुल सांस्कृत्यायन ने वसुबंधु के रचनाओं के बारे में लिखा है "वसुबंधु की छोटी–बड़ी 55 कृतियों के अनुवाद प्राप्त हैं। इनमें से वज्रयान से संबंध रखने वाली कृतियाँ कोई नहीं हैं। अनुदित कृतियों की सूची निम्नानुसार है–

1. **बौद्ध सामान्य**
   1. अभिधर्म
   2. प्रमाण शास्त्र
   3. टीका
   4. कथा
2. **महायान**
   1. विज्ञानवाद
      क. मूल
      ख. टीका
   2. स्रोत्र

ग्रंथ का नाम		समय

1. बौद्धसामान्य

1. अभिधर्म

1.	अतिमोपदेश	
2.	अभिधर्मकोशकारिका	651–54 ई.
3.	अभिभाष्य	564–67 ई.
4.	गाथासंग्रहशास्त्र	806 ई.
5.	गाथा अर्थ	806 ई.
6.	निर्वाणशास्त्र	386–550 ई.
7.	निर्वाणसूत्र	550 ई.

2. प्रमाणशास्त्र

8.	तर्कशास्त्र (वादविवाद)	550 ई.

3. टीका

9.	नागार्जुन भाष्य	
10.	ग्रंथशीर्ष	535 ई.
	ग्रंथआख्यान	0
11.	धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्रोपदेश	541 ई.
12.	प्रतीत्यसमुत्पादादि गवभंगभाष्य	
13.	बुद्धानुस्मृतिटीका	620 ई.

4. कथा

14.	पंचकामगुणोपालंभनिर्देश	950–1050
15.	शीलपरिकथा	450 ई.
16.	सप्तगुणपरिवदनकथा	0
17.	सप्तगुणविवरणकथा	711 ई.
18.	संबंधपरिकथा	711 ई.

2. महायान

1. विज्ञान वाद

(क) मूल

19.	अपरिमितायु शास्त्र	529 ई.
20	कर्मसिद्धिप्रकरण	651 ई.
	कर्मसिद्धिप्रकरण	541 ई.
	कर्मसिद्धिप्रकरण	830 ई.
21.	चतुधर्मोपदेश	539 वा 541 ई.
22.	त्रिपूर्णसूत्रोपदेश	539 या ५41

23.	त्रिस्वभावनिदेश	1000 ई.
24.	दशभूमिकशास्त्र	508–11 ई.
25.	व्याख्यान	
26.	ध्यानव्यवहार	703 ई.
27.	पंचस्कंधशास्त्र प्रकरण	647 ई.
28.	बुद्धगोत्रशास्त्र	557–69 ई.
29.	बोधिचितोत्पाद	405 ई.
30.	मध्यांतविभाग	661 ई.
31.	टीका	806 ई.
32.	महायानशतधर्मविद्याद्वार	648 ई.
33.	वज्रच्छेदिकाशास्त्र	509 ई.
34.	व्याख्या	711 ई.
35.	विज्ञप्तिमात्रता (त्रिंशिका)	648
36.	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	508–35 ई.
37.	विज्ञप्तिमात्रताविशिकाकरि	806 ई.
38.	वृत्ति	
39.	व्याख्यायुक्ति	880 ई.
40.	सूत्रखंडशत	880 ई.

(ख) टीका

41.	अक्षयमतिनिर्देशटीका	
42.	धर्मधर्मताविभंगवत्ति	1059–1108 ई.
43.	भद्रचर्याप्रणि टीका	1040 ई.
44.	नहायानशतधर्मप्रकाशद्वार	
45.	महायानसंग्रहभाष्य	1050 ई.
46.	वज्रच्छेदिकासप्तार्थटीका	0
47.	विवत्तगुह्यार्थपिण्डव्याख्या	531 ई.
48.		0
49.	विशेषचिंताब्रम्परिपृच्छाटीका	531 ई.
50.	षश्मुखीधारणीव्याख्या	
51.	शतशस्त्रटीका	404 ई.
52.	शमथविपश्यनाद्वार	711 ई.
53.	सद्धर्मपुंडरीकसतटीका	508–35 ई.
54.	सूत्रालंकारव्याख्यान	820 ई.

2. स्रोत्र

55.	त्रिरत्नस्रोत्रति	

(प्रस्तुत सूची : राहुल सांस्कृत्यायन की रचना
'पाँच बौद्ध दार्शनिक' से साभार)

3.3.2 आर्य वसुबंधु की रचनाओं का विश्लेषण

विज्ञानवाद में वसुबंधु ने अपने अग्रज असंग के 'योगचर्या भूमि' में प्रतिपादित सिद्धांत का ही विस्तार किया। महायान दर्शन में उनके इस योगदान का विशेष महत्व है। वसुबंधु विज्ञानवाद की दृष्टि से केवल विज्ञाप्तिमात्रता या विज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादी जो देखा गया है उसी सच को महत्व देते हैं, इसके अलावा बाह्य विषय की सत्ता वे स्वीकार नहीं करते।

उन्होंने विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि (विंशिका) नामक दो ग्रंथ लिखे जो विज्ञानवाद के श्रेष्ठ ग्रंथ माने जाते हैं। चीनी बौद्ध दार्शनिक और यात्री 'ह्वेनसांग' ने नालंदा में अध्ययन करते समय 'विज्ञाप्ति' मात्रता सिद्धि की दस टीकाएं एकत्रित की थी। 'वादविधान' भी उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है, जो तर्कशास्त्र का अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है। इसके उद्धरण उद्योतकार ने अपने न्यायवार्तिक में जगह–जगह उद्धृत किए हैं।

इनके शिष्यों में स्थिरमति, दिङ्नाग, आर्य विमुक्त सेन और गुणप्रभ प्रमुख थे। प्रसिद्ध गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने उनकी गहन ज्ञानगरिमा और तर्क बुद्धि से प्रभावित होकर अपने राजकुमार चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की शिक्षा–दीक्षा के लिए वसुबंधु को नियुक्त किया था।

आचार्य नरेन्द्र देव अभिधर्मकोष पर चर्चा करते हुए कहते हैं– "वसुबंधु का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ अभिधर्मकोष है। इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। लुई द वाले पूसें ने चीनी से फ्रेंच में अनुवाद किया। राहुल सांस्कृत्यायन तिब्बत से मूल संस्कृत ग्रंथ का फोटो लाये थे। जायसवाल–अनुशीलन –संस्था पटना की ओर से मूल ग्रंथ के प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है। चीनी भाषा में इस ग्रंथ के दो अनुवाद हैं–एक परमार्थ का दूसरा शुआन–च्वांग का। परमार्थ का अनुवाद 563 ई. का है। इस ग्रंथ में छः सौ कारिकायें हैं और वसुबंधु ने स्वयं इसका भाष्य लिखा है। इस ग्रंथ का बौद्ध जगत पर व्यापक प्रभाव पड़ा। सब निकायों में तथा सर्वत्र इसका आदर हुआ। इसने बहुत शीघ्र अन्य प्राचीन ग्रंथों का स्थान ले लिया। यह बड़े महत्व का ग्रंथ है। वसुबंधु के अनुसार अभिधर्मकोष में वैभाषिक–सिद्धांत का निरूपण कश्मीरी–नय से किया गया है। कोष के प्रकाशित होने पर सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रंथों (अभिधर्म और विभाषा) का महत्व घट गया। कोष में वैभाषिक–सौत्रान्तिक का विवाद भी दिया गया है, अन्त में ग्रंथकार अपना मत भी देते हैं। कोष में अन्य ग्रंथों से उद्धरण भी दिये गये हैं। इस प्रकार प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिये भी कोष का बड़ा मूल्य है।

अभिधर्मकोष पर कई टीकायें लिखी गयी थी, किन्तु केवल यशोमित्र की 'स्फुटार्था' व्याख्या पायी जाती है। इसका सम्पादन बोगिहारा ने जापान से किया है। कलकत्ते से देवनागरी अक्षरों में यह ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। दिड़नाग, स्थिरमति, गुणपति आदि ने भी कोष पर टीकायें लिखी हैं–मर्म–प्रदीप, तत्वार्थ टीका, लक्षणानुसार आदि। चीनी भाषा में भी कोष पर कई टीकायें हैं।

संघभद्र ने न्यायानुसार नाम का अभिधर्मशास्त्र वसुबंधु के मत का खंडन करने तथा यह बताने के लिये लिखा कि कहाँ वसुबंधु शास्त्र से व्यावृत्त करते हैं, न्यायानुसार अभिधर्मकोष की आलोचनात्मक टीका है। जहाँ जहाँ वसुबंधु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ वहाँ न्यायानुसार उसका खंडन करता है।

आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा अनुदित अभिधर्म कोष भाग–एक की भूमिका वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखी है। इसमें उनके द्वारा बताया गया है कि कलकत्ते से देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित होने वाले ग्रंथ का प्रकाशन 1959 में प्रकाशित हो गया है। प्रह्लाद प्रधान द्वारा

भी इस ग्रंथ का सम्पादन किया गया था। इसका प्रकाशन काशी प्रसाद जायसवाल अनुशील संस्थान पटना से हुआ था। संभवतः यह उसी ग्रंथ का संपादन है जिसकी फोटो राहुल जी तिब्बत से लाये थे। प्राप्त सूचना के अनुसार अभिधर्मकोष का सम्पादन निम्न विभूतियों द्वारा भी किया था–

1. श्री बी. बी. गोखले, जे. आर. ए. एस. (मुम्बई) 1946
2. श्री पी. एस. जेनी, काशी प्रसाद शोध संस्थान (पटना) 1949
3. श्री महेश तिवारी, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1987
4. राहुल सांस्कृत्यायन, काशी विद्यापीठ वाराणसी

इसके अतिरिक्त अनेक अन्य भाषाओं में भी अभिधर्मकोष का संपादन और अनुवाद हुआ है।

वसुबंधु ने अनेकानेक विषयों पर विपुल रचनायें की थीं। ऊपर जिन ग्रंथों को सूचीबद्ध किया है, वह अन्तिमकृत नहीं है। लेकिन इनकी अधिकांश रचनायें नष्ट हो चुकी हैं। यह भी संभव है कि जानबूझकर इनकी रचनाओं को नष्ट किया गया हो क्योंकि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जितनी हानि बौद्ध साहित्य की हुई है, उतनी किसी अन्य साहित्य की नहीं हुई। अभिधर्मकोष के अलावा सात अन्य ग्रंथों पर स्टीफन एनक्कर ने अपनी पुस्तक 'सेवेन वर्क्स ऑफ वसुबंधु' में चर्चा की है। हम यहाँ इन पुस्तकों पर ही सार संक्षेप में चर्चा करेंगे।

1. वाद–विधि

इस पुस्तक की भूमिका में एनक्कर ने अपनी टिप्पणी अंकित हुए यह संभावना व्यक्त की है कि इस पुस्तक के बाद बाद–विधान में वसुबंधु ने तर्कशास्त्र पर एक और ग्रंथ लिखा था जिसका अल्पांश ही सुरक्षित बचा है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने दिङ्नाग को उद्धृत करते हुए बताया है कि अपनी पुस्तक 'प्रमाणसमुच्चय' में दिङ्नाग कहते हैं कि वसुबंधु ने बाद में 'वाद–विधि' की अनेक स्थापनाओं को खारिज कर दिया था।

बाद–विधि के बारे में लिखते हुए एनक्कर बताते हैं कि किसी भी भाषा में यह ग्रंथ पूरा का पूरा उपलब्ध नहीं है। इतना ही नहीं, बाद में दिङ्नाग द्वारा तकशास्त्र पर लिखे गये ग्रंथों की प्रसिद्धि ने वाद–विधि को नेपथ्य में धकेल दिया। लेकिन दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चयवृन्ति में तथा जितेन्द्रबुद्धि 'प्रमाण समुच्चय टीका' में इसका बार–बार उल्लेख मिलता है। दोनों ग्रंथ तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं। प्रो. फ्राउवालनर ने उन ग्रंथों में बिखरे हुए संदर्भों को एकत्रित एवं क्रमबद्ध करके पुस्तक का स्वरूप प्रदान किया।

वाद–विधि वसुबंधु की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। यह तर्कशास्त्र का ग्रंथ है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इस ग्रंथ ने भारतीय तर्कशास्त्र की औपचारिक परंपरा की नींव डाली। यह निश्चित है कि उस काल में प्रचलित शास्त्रार्थ की परम्परा ने ही वसुबंधु को इस ग्रंथ को लिखने के लिये प्रेरित किया होगा। स्वयं वसुबंधु की रूचि शास्त्रार्थ में थी। शास्त्रार्थ करते समय अपने मतों को सुव्यवस्थित एवं त्रुटिहीन ढंग से प्रस्तुत करने की अनिवार्यता होती है। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, वसुबंधु ने इसी अनिवार्यता की पूर्ति की है, इस ग्रंथ को लिखकर। वसुबंधु ने अपनी पुस्तक में गौतम (तीसरी सदी ई.पू.) के न्याय–मूल, वात्स्यायन (तीसरी–चौथी सदी) के 'न्याय–भाष्य', असंग के वाद–विवाद नियम तथा बौद्धों के 'तर्क–शास्त्र' में पूर्व से ही प्रतिपादित विषयों पर भी विमर्श किया है। लेकिन 'वाद–विधि' अपने से पूर्व के ग्रंथों से इस मामले में विशिष्ट है कि विषयगत संदर्भों एवं परिप्रेक्ष्यों पर सम्यक चर्चा के बाद ही निष्कर्षों के प्रतिपादन करने का विधान है।

2. पंचस्कंध–प्रकरण

स्टीफन एनक्कर के अनुसार पंच स्कंध प्रकरण का मूल संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। उन्होंने अंग्रेजी में जो भी चर्चा इस ग्रंथ के बारे में किया है वह जिन मित्र, शीलेन्द्र बोधि दानशील और पेशेस–डी द्वारा इस ग्रंथ के तिब्बती अनुवाद पर आधारित है।

इस पुस्तक में पंचस्कन्धों, आयतन तथा धातु का विश्लेषणात्मक अध्ययन है। स्कंध का तात्पर्य राशि या समूह से होता है। प्रकरण के लक्षण पर चर्चा करते हुए 'बौद्धाचार्य वसुबंधु' में निम्न लोक उद्धृत किया गया है:–

शास्त्रैकदेश संबंध, शास्त्रकार्यानतरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम, ग्रंथभेद विपश्चितम्।।

शास्त्र के किसी अंश का विषद विवेचन जिस रचना में होता है, वह प्रकरण ग्रंथ कहलाता है और उसका विवेचन शास्त्र से भिन्न प्रकार का होता है। पंचस्कन्ध प्रकरण तीन अधिकार (प्रकरण अथवा विषय) में विभक्त है। प्रथम अधिकार में स्कन्धों का विवरण दिया गया है जबकि दूसरे और तीसरे में क्रमशः आयतन और धातु का विवरण है। स्कन्ध के पाँच भेद हैं– रूपस्कंध, वेदना स्कंध, संबा स्कंध, संस्कार स्कंध और विज्ञान स्कंध। आयतन का अर्थ आप द्वार अथवा उत्पत्ति द्वार है। धातु का आशय गोत्र से होता है। पूरे ग्रंथ में इन तीनों प्रकरणों अथवा विषय के भेदों उपभेदों पर विषद चर्चा की गयी है।

3. कर्म सिद्धि–प्रकरण

यह ग्रंथ मूल संस्कृत भाषा में उपलब्ध नहीं है। विशुद्धि सिंह, देवेन्द्ररक्षिता और डिपाल–ब्रेशे के तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। ह्वेनसांग ने चीनी में भी इसका अनुवाद किया था।

कोश की शैली में लिखा गया यह एक उत्कृष्ट पांडित्यपूर्ण ग्रंथ है जिसमें विरोधियों के मतों का खंडन करने के लिये वसुबंधु ने अपने दृष्टिकोण और पद्धति का प्रतिपादन और निरूपण किया है। वस्तुतः इस ग्रंथ के द्वारा वैभाषिक–सिद्वांतों पर न केवल सीधा प्रहार किया गया है बल्कि वैभाषिकों की उन आपत्तियों का उत्तर भी दिया गया है जो उनके द्वारा वसुबंधु के प्रारम्भिक सिद्धांतों के विरूद्ध लगाये गये थे।

यह हीनयान ग्रंथ नहीं है। यह संग्रहित चेतना का प्रयोग मनोबोध के नैरन्तर्य के लिये करता है, 'सन्धिनिर्मोचन–सूत्र' को महायान के आधिकारिक ग्रंथ की तरह उद्धृत करता है। लेकिन यह हीनयानियों को संबोधित है और पूर्व में प्रतिपादित सिद्धांतों की कमियो को दूर करके वैभाषिकों को आकर्षित करने का प्रयास है जिससे वे अन्ततोगत्वा योगाचार दर्शन को स्वीकार कर सकें।

4. विंशतिका कारिका

वसुबंधु रचित विज्ञाप्तिमात्रता–सिद्धि के दो भाग हैं–विंशतिका या विंशिका और त्रिंशिका। इनके द्वारा उन्होंने विज्ञाप्तिमात्रता या निर्बाधार्थता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। यद्यपि ये अतिलघुकाय ग्रंथ हैं तथापि इनकी विषय–प्रतिपादन शैली अत्यंत पुष्ट एवं इनमें प्रयुक्त युक्तियाँ अत्यंत दृढ़ हैं। बाद के विज्ञानवादी आचार्यो ने अपने–अपने ग्रंथों में इन युक्तियों का भरपूर उपयोग किया है और विरोधियों ने भी इनका उद्धरण दे देकर खंडन किया है। इसी से स्पष्ट है कि बौद्ध वाङ्मय में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। विज्ञानवादियों द्वारा तो ये आधार ग्रंथ (बुक्स ऑफ रिफरेंस संदर्भ ग्रंथ) ही माने जाते हैं।

नाम से ही स्पष्ट है कि विंशिका में बीस कारिकाएं तथा त्रिंशिका में तीस कारिकाएं हैं। किन्तु इस समय उपलब्ध विंशिका में हमें बाइस कारिकाएं उपलब्ध होती हैं। इतना ही नहीं, तिब्बती भाषा में अनूदित विंशिका में भी 22 ही कारिकाएं हैं। किन्तु तिब्बती में अनूदित स्ववृत्ति में 21 ही कारिकाएं हैं। उपलब्ध 22 कारिकाओं में सेः

विज्ञप्तिमात्र में बैत दस दर्था वभासनात्।
यथा तैमिरि कस्यासत्केश चन्द्रादिदर्शनम्।।

यह पहली कारिका स्ववृन्ति में पद्यरूप में नहीं, अपितु गद्य में लिखी हुई। ऐसा लगता है कि यह मूलकारिका न होकर स्ववृत्ति का ही वाक्य अथवा अंश है। इसके उपरांत भी 21 कारिकाएं रह जाती हैं और 20 न होने की समस्या बनी रहती है। इसका निदान तभी संभव है जब यह मान लिया जाये कि अन्तिम कारिका, जो निम्नवत् हैः

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सातु न चिन्त्या बुद्ध गोचरः।।

को यह कारिका ग्रंथ का अंश न होकर उपसंहारमात्र है या यह केवल ग्रंथ समाप्ति की सूचक मात्र है। इस तरह ग्रंथ के मूल भाग में केवल 20 कारिकाएं ही रह जाती हैं। फलतः इसका विंशिका नाम सार्थक है, किन्तु यह समाधान अन्तिम निष्कर्ष में न लेकर इस पर विचार करना चाहिये।

5. त्रिंशिका–कारिका

विंशिका की भाँति त्रिंशिका भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। विंशिका का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बाहयार्थ का निषेध मात्र है, जबकि त्रिंशिका द्वारा विज्ञान–वाद का सिद्धांत पक्ष प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् इसके द्वारा विज्ञानवाद के अनुसार जगत् की व्याख्या, मोक्ष का स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के उपाय प्रदर्शित किये गये हैं। ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य नैशत्म्य (पुदगलनैशत्म्य और धर्मनैशत्म्य) की स्थापना है, क्योंकि वह आत्मदृष्टि का प्रतिपक्ष है। अर्थात् नैशत्म्यबोध से आत्मदृष्टि का प्रहाण होता है। आत्मदृष्टि का प्रहाण इसलिए आवश्यक है, क्योंकि वह मोक्ष और सर्वजत्व की प्राप्ति में प्रतिबंधभूत है। सत्कायदृष्टि समस्त क्लेशों का मूल है और वही मुख्यतः क्लेशावरण है। धार्मात्मदृष्टि समस्त जेयों के यथार्थ ज्ञान में बाधक है और वही अक्लिष्ट अविद्या और जेयावरण है। नैशत्म्य के सम्यग अवबोध से उक्त दृष्टियों का प्रहाण होता है तथा मोक्ष और सर्वज्ञत्व का लाभ होता है। अतः ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य नैशत्म्यावंबोध ही है।

6. मध्यान्तविभागभाष्य

'मध्यान्तविभागभाष्य' मूल संस्कृत भाषा में इसका कई बार सम्पादन किया गया है। इनमें सुजुकी रिसर्च फाउंडेशन टोकियो से सन् 1964 में प्रकाशित गार्डाजन नगाओ का सम्पादन सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण है। के. पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट पटना से नाथमल टटिया और अनन्त लाल ठाकुर के सम्पादन में वर्ष 1967 में प्रकाशित ग्रन्थ भी इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयास है।

स्टीफन एनेक्कर के अनुसार इसके द्वारा वसुबंधु ने मैलेयनाथ के ग्रंथ पर भाष्य लिखा है। कहा जाता है कि असंग ने मैत्रेयनाथ के कई ग्रंथ वसुबंधु को दिये थे। वसुबंधु ने उन सब पर भाष्य लिखा था। यह ग्रंथ उन्हीं में से एक है।

यह ग्रंथ बुद्ध के मध्यम मार्ग का पोषक एवं विस्तार है। बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश में कहा था कि – उनका मार्ग मध्यम मार्ग है तथा यह जीवन की तृष्णा और मृत्यु की इच्छा इन

दोनों अंतों से बीच का है। बुद्ध के 600 वर्ष बाद जन्में नागार्जुन ने भी अपने दर्शन को मध्यमक अथवा माध्यमिक कहा। इसके लगभग 200 वर्ष बाद रचे गये ग्रंथ "मध्यान्त विभाग कारिका" एवं "मध्यान्त विभाग भाष्य" में अंतों से मध्यम का विभाग बताया गया है। 'मध्यान्तविभाग' का शाब्दिक अर्थ मध्य को दो अंतों से अलग करना अर्थात् जीवन और मृत्यु इन दोनों से अलग बीच के मार्ग अर्थात् मध्यम मार्ग को प्रदर्शित करना है। अन्य शब्दों में भूत भविष्य इन दो अंतों से वर्तमान अर्थात् मध्य को अलग करना है। इस ग्रंथ का प्रयोजन है। वज्र, शुभ, अशुभ कर्म, अकर्म इत्यादि अंतों से इनके मध्य का विभाग प्रदर्शित किया गया है।

जगत् का मूल कारण क्या है तथा इसका भविष्य क्या है, प्रलय, विलय, संहार क्या है, कैसा है, दो छोर के इन चरम विचारों से ध्यान हटाकर वर्तमान जीवन पर वर्तमान क्षण पर ध्यान केन्द्रित करना ग्रंथ के नाम की सार्थकता प्रमाणित करता है।

इंसान सदैव विश्व की उत्पत्ति के प्रति अतिउत्सुकता से जानने का प्रयास करता है, वैसे ही हमारा भविष्य कैसा होगा? क्या प्रलय से, संहारक शक्ति अर्थात् युद्ध से यह विश्व समाप्त होगा। जैसी चिंताओं में अधिक समय न गँवाकर वर्तमान के प्रति अधिक चिंता दर्शानी चाहिए। बुद्ध का मध्यम मार्ग यही कहता है। जिसे वसुबंधु ने और अधिक सप्रमाण देकर जन सामान्य को समझाया।

7. त्रिस्वभाव–निर्देश

स्टीफन एनेक्कर के विचार से यह वसुबंधु की अन्तिम रचना हो सकती है। उनका यह भी कहना है कि अपने विषय की महत्ता के बावजूद यह ग्रंथ उपेक्षित ही रहा और किसी भी विद्वान ने इस पर कोई भाष्य या टीका नहीं लिखा।

आचार्य नरेन्द्र देव ने भी अपनी पुस्तक में इस ग्रंथ पर चर्चा किया है। हम यहाँ सार–संक्षेप में निम्न अंश यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:–

"वसुबंधु ने त्रिस्वभाव–निर्देश नामक एक ग्रंथ लिखा है। जी.तुची को नेपाल में मूल संस्कृत ग्रंथ मिला था। इसका प्रकाशन विश्वभारती से हुआ है। (इसके अनुसार) स्वभाव तीन हैं– परिकल्पित, परतंत्र, परिनिष्पन्न।

स्थिरमति के अनुसार जिस–जिस विकल्प से हम जिस–जिस वस्तु का परिकल्प करते हैं वह वह वस्तु परिकल्पित स्वभाव है। विकल्प्य वस्तु अनन्त है। यह आध्यात्मिक एवं बाह्य है। यहाँ तक कि बुद्ध धर्म भी विकल्प वस्तु है। जो वस्तु विकल्प का विषय है, उसकी संता का अभाव है, अतः वह विधमान नहीं है। अतः वह परिकल्पित स्वभाव है। नन्द के अनुसार अनन्त अभूत परिकल्प या अभूत विकल्प है, जो परिकल्पना करते हैं। उस विकल्प से विविध विकल्प वस्तु परिकल्पित होते हैं। अर्थात् स्कन्ध आयतन–धातु आदि आत्म–धर्म के रूप में मिथ्या गृहित होते हैं। इन्हें परिकल्पित स्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव परमार्थतः नहीं है। धर्मपाल के अनुसार 'विकल्प' वह विज्ञान है जो परिकल्पना करता है।

परतंत्र स्वभाव 'परतंत्र' प्रत्यय से उद्भूत विकल्प है। यह व्याख्या 'प्रतीत–समुत्पन्न' से मिलती–जुलती है। जो हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है, वह परतंत्र है। एकमत से यह लक्षण केवल क्लिष्ट परतंत्र का है। वास्तव में अनास्रव परतंत्र को 'विकल्प' नहीं कहते। एक दूसरा मत यह है कि सब चिन्त–चैन्त चाहे सास्रव हो या अनास्रव, 'विकल्प' कहे गये हैं।

परिनिष्पन्न स्वभाव परतंत्र की परिकल्पित से सदा रहितता है। यह अविकार स्वभाव है। यह ग्राह्य–ग्राहक इन दो विकल्पों से विनिर्मुक्त होता है। इस स्वभाव की सदा ग्राह्य–ग्राहम–भाव से अत्यंत रहितता होती है। यह कल्पित स्वभाव की अत्यंत शून्यता है। अतएव यह परतंत्र से न अन्य है, और न अनन्य, यथा अनित्यता अनित्य धर्मों से अन्य है, और न अनन्य।

8. अभिधर्मकोष

इस ग्रंथ पर ऊपर पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। लगभग 600 कारिकाओं से युक्त इस ग्रंथ को वसुबंधु की प्रतिनिधि रचना कहा जा सकता है। जैसा कि बताया जा चुका है, वसुबंधु के अनुसार अभिधर्मकोष में वैभाषिक सिद्धांत का निरूपण काश्मीर नय से किया गया है। लेकिन संघभद्र की दृष्टि में वसुबंधु ने अपने ग्रंथ में वैभाषिक नय का प्रतिपादन करके स्वतंत्रता से काम लिया है। इसलिये उन्होंने उसकी आलोचना में न्यायानुसार शास्त्र नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ की रचना वसुबंधु के मत का खंडन करने तथा यह बताने के लिये की गयी कि वसुबंधु शास्त्र से कहाँ विचलन करते हैं अर्थात् जहाँ जहाँ वसुबंधु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ–वहाँ न्यायानुसार उसका खंडन करता है। आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा अनूदित अभिधर्मकोष (भाग–1) की भूमिका में उस ग्रंथ के बारे में यह पाद टिप्पणी अंकित है – "शुआन–च्वाड़ का जीवनी लेखक हुई – लि सूचित करता है कि काश्मीरी संघभद्र ने 25 सहस्त्र श्लोकों में शाकारिकाशास्त्र लिखा था। वह वसुबंधु से मिलना चाहता था, पर उनकी मृत्यु हो गई इसलिए न मिल सके। वसुबंधु को जब संघभद्र के ग्रंथ का पता चला तो उन्होंने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसे अधिकांश में अपने मत के अनुकूल जानकर उसे न्यायानुसारशास्त्र नाम दिया।

वसुबंधु ने अपने से पूर्ववर्ती सर्वास्थिवादी परंपरा के समस्त अभिधर्मशास्त्र का मंथन करके कोष के रूप में अपने नये शास्त्र की रचना की। मूलग्रंथ में प्रतिपाद्य विषय 600 कारिकाओं में निबद्ध किया गया। उसी पर वृहत् भाष्य स्वयं उन्होंने ही रचा। इस ग्रंथ में आठ कोष स्थान हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं:– 1. धातु, 2 इन्द्रिय, 3. लोकधातु, 4. कर्म, 5. अनुशय, 6. आर्यपुद्गल, 7. ज्ञान, 8. ध्यान।

विषयवार कारिकाओं की गणना करने पर इनकी वास्तविक संख्या 598 होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म–दर्शन के प्रतिपादकों में वसुबंधु एक महान् दार्शनिक के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उनकी विशेषता यह थी कि वह कभी भी किसी एक विचारधारा से बाँध कर नहीं रहे। वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'अभिधर्मकोष की रचना के बाद वसुबंधु महायान दर्शन के पूर्ण प्रभाव में आ गये और तब उन्होंने विंशतिकात्रिंशिका शास्त्र की रचना की । इन दोनों के बीच की कड़ी कर्मसिद्धि प्रकरण है। दार्शनिक वसुबंधु का दिग्गज मस्तिष्क स्वतंत्र–चिंतन में सक्षम था, वे प्रगतिशील बने रहे, विचारों का एक चौखटा उन्हें सदा के लिये जकड़ कर नहीं रख सका। वे आरम्भ में सौत्रान्तिक थे। उसी नय के अनुसार अभिधर्मकोष की रचना हुई। वैभाषिक मत उनका जहाँ–जहाँ मतभेद हुआ उसे संघभद्र ने अपने अभिधर्मन्यायानुसार शास्त्र में प्रदर्शित किया है। उनके गुरु मैत्रेयनाथ योगाचार–दर्शन के निर्माता थे। योगाचार सिद्धांत सर्वास्तिवाद दर्शन के द्रव्यसत् दृष्टिकोण का निराकरण करके विज्ञानवाद का समर्थन करता है, अर्थात् विश्व के भूत भौतिक पदार्थ या पंचस्कंध की स्वतंत्र आलम्बन पर आश्रित सत्ता नहीं है, वह केवल विज्ञान या विज्ञाप्तिमात्र है। योगाचार के इस दृष्टिकोण को कादम्बरी में 'निरालम्बना बौद्ध बुद्धि' अर्थात् सब प्रकार के सत्तामूलक आलम्बनों से समतिक्रांत धर्मवाली दृष्टि कहा गया है। असंग के इस दृष्टिकोण ने वसुबंधु पर भी प्रभाव डाला। उनका विकासशील मानस प्रवर्धमान चिन्तन का अभ्यासी था। वे अकुण्ठित भाव से नये

विचारों की समीक्षा और स्वागत करते थे। जैसा ऊपर किवदंती में उल्लेख है, अपने प्रतिपक्षी आलोचक संघभद्र के प्रति भी उन्होंने हृदय की उदारता का परिचय दिया और सौत्रान्तिकृनय की आलोचना करने वाले संघभद्रीय शास्त्र को न्यायानुसार शास्त्र की सम्मानपूर्ण आख्या प्रदान की। इस प्रकार की विचार सरणि, उदारता और प्रतिभा से समन्वित वसुबंधु ने पहले तो अभिधर्मकोष कारिका और उस पर महान् भाष्य की रचना की जो प्रधानतः हीनयानीय सर्वास्तिवाद की सौत्रान्तिक दृष्टि से अभिधर्म का प्रतिपादन है, पुनः उन्होंने कर्मसिद्धि प्रकरण ग्रंथ लिखा जिसमें सौत्रान्तिक दृष्टि होते हुए भी महायान का प्रभाव लक्षित होता है, मानों वे हीनयान से महायान में परिवर्तन की संक्रमण रेखा पार करते हुए विज्ञानवादी योगाचार दृष्टिकोण का समर्थन कर रहे थे। उनके विकास की अन्तिम अवस्था विंशतिका और त्रिंशिका नामक ग्रंथों से परिलक्षित होती है जिनमें महायान दृष्टि पूर्णतः प्रस्फुटित हुई है।

3.4 सारांश

योगाचार दर्शन के विज्ञानवाद सिद्धांत को स्वीकारने वाले आचार्यों में जहाँ प्रमुखतः असंग, वसुबंधु आदि का नाम लिया जाता है वहीं पर दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शांत रक्षित आदि बौद्ध आचार्य भी इन्हीं के बाद को प्रबह्मता से स्वीकार करते हैं। यहीं नहीं इस विज्ञानवाद के सिद्धांत को काश्मीर के शैवदर्शन तथा शंकराचार्य के गुरु गौड़पाद ने भी स्वीकारा है। असंग और वसुबंधु बाह्य जगत के अस्तित्व से इंकार करते हुए विज्ञान (अभौतिक तत्व, मन) को एकमात्र पदार्थ मानते हैं। 'जो क्षणिक नहीं वह सत् ही नहीं' इस सूत्र का अपवाद बौद्धदर्शन में हो नहीं सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है। चौथी सदी के उत्तरार्द्ध में असंग और वसुबंधु के प्रौढ़ ग्रंथों के कारण विज्ञानवाद यह दर्शन अत्यंत प्रबल और प्रसिद्ध हो गया। आचार्य असंग क्षणिक विज्ञानवादी थे। इनका यह विज्ञानवाद बुद्ध के 'सुब्बं अनिच्यं' सब अनित्य है। इस क्षणिकवाद के विज्ञानवाद का सम्मिश्रण है। क्षणिकवाद शब्द से ही प्रतीत्य–समुत्पाद को स्वीकार किया है। 'क्षण भंगुर च प्रतीत्यसमुत्पादः' अर्थात् वस्तुएं प्रतिक्षण नये–नये रूप में जीवन यात्रा करती है। इस प्रकार हर कार्य का आधारभूत सत्य होना अनिवार्य है और यही प्रतीत्य समुत्पाद है। आचार्य असंग ने अपने योगाचार भूमि में जिन 16 परवादों की चर्चा की हैं उन वादों का अपनी प्रबल तर्क शैली से खंडन करके स्वमत दर्शाया है। आचार्य जाति व्यवस्था को जन्माधारित न मानकर उसे कर्माधारित मानने के प्रबल पक्षधर प्रतीत होते हैं। ब्राह्मण की तरह सभी वर्ण मातृयोनि से पैदा होते हैं। अतः ब्राह्मणवाद का प्रखर विरोध उनका यह सिद्धांत करता है यह स्पष्ट है। अतः वे सबको समान भाव से देखते हैं। उनकी दार्शनिक विचारधारा सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय की कामना के आधार पर टिकी हुई है। ग्रह नक्षत्र आदि जड़पूजा, नदियों में स्नान कर लेने मात्र से किसी की शुद्धि नहीं होती अपितु अपने–अपने अच्छे–बुरे कर्मफ़ल हीं इसमें सहायक होते हैं। इस विचार द्वारा अंधविश्वास, कर्मकांड आदि ब्राह्मणवादी जड़ता का ही वे विरोध करते हुए दिखाई देते हैं।

इकाई 4 धर्मकीर्ति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 धर्मकीर्ति का समय और कृतीत्व

4.3 तत्कालीन समाज एवं दार्शनिक परिस्थिति

- 4.3.1 क्षणिक वाद
- 4.3.2 क्षणिक मीमांसा
- 4.3.3 कार्य कारणवाद

4.4 प्रमाणवाद

4.5 प्रत्यक्ष प्रमाण के तत्व

4.6 आत्मवाद

4.7 विज्ञानवाद

4.8 सारांश

4.0 उद्देश्य

बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष, दिङ्नाग और नागार्जुन, असंग और वसुबंधु पर लिखित इकाइयों का अध्ययन करने के उपरांत अब आप प्रस्तुत खंड की चौथी इकाई आचार्य –'धर्मकीर्ति' का अध्ययन करेंगे।

बौद्ध दर्शन की परंपरा को जिन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से समृद्ध बनाया उनमें आचार्य धर्मकीर्ति का स्थान महत्वपूर्ण है। धर्मिकीर्ति अपने क्षेत्र के इतने कुशल ज्ञाता थे कि डॉ. श्चेविस्कि ने उन्हें भारतीय काण्ट की उपाधि दी। अद्भुत प्रतिभा के कारण उनके वैचारिक प्रतिद्वंदी भी उनकी प्रशंसा करते थे। अपने को अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझने वाले श्री हर्ष (1162 ई.) ने धर्मकीर्ति के तर्कपथ को 'दुराबाध' कहकर उनकी प्रतिभा का समर्थन किया है -

"दुराबाध इव चायं धर्मकीर्तिः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति।"

धर्मकीर्ति के मन्तव्य या प्रतिपाद्य को सर्वाधिक आज की विद्वत्परिषद् मान सकता है, क्योंकि आज की दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगति में उनके मूल्य अधिक उपयोगी माने जाते हैं।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- धर्मकीर्ति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से तथा एक अद्वितीय कवि और दार्शनिक के रूप में उनका परिचय प्राप्त कर सकेंगे;
- धर्मकीर्ति के कार्य–कारणवाद दर्शन का विश्लेषण कर सकेंगे;

- क्षणिकवाद, विज्ञानवाद जैसे मूढ दार्शनिक विचारों की सहज एवं सरल व्याख्या को रेखांकित कर सकेंगे;
- महात्मा बुद्ध के अनात्मवाद सिद्धांत को धर्मकीर्ति ने किस प्रकार विकसित करके ब्राह्मणवाद के आत्मा–ईश्वर–धर्म आदि मिथ्या आडंबर एवं तर्कों का विरोध किया है को समझ सकेंगे;
- विज्ञान के आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान के रूपों का विवेचन धर्मकीर्ति के अनुरूपक कर सकेंगे; और
- वैदिकों के अतार्कीक अवैज्ञानिक स्थापनाओं को किस प्रकार धर्मकीर्ति ने उखाड फेंका था, को रेखांकित कर सकेंगे;

4.1 प्रस्तावना

धर्मकीर्ति का जन्म चोल प्रांत के तिरूमलै नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम कोरूनन्द था। कतिपय विद्वानों का मानना है कि वे 'कुमारिल भट्ट, के भांजे थे। धर्मकीर्ति बाल्यकाल से ही प्रतिभा के धनी थे। अपनी वंश परंपरा के अनुरूप उन्होंने वेद तथा विविध शास्त्रों का अध्ययन किया। उस समय तक विश्व में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हो गया था और नागार्जुन, वसुबंधु व दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों के मतों को सराहा जा रहा था। धर्मकीर्ति बौद्ध दर्शन से प्रभावित हुए और अपनी वेशभूषा आदि को बौद्ध गृहस्थों के अनुरूप बना लिया जिसके कारण ब्राह्मणों ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया। नालन्दा की ख्याति सुनकर आचार्य वहाँ पहुँचे और उस समय के महान बौद्ध विज्ञानवादी दार्शनिक धर्मपाल जो कि नालन्दा के संघस्थवीर (प्रधान) थे उनका शिष्यत्व प्राप्त कर भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गये। अपनी रुचि के अनुरूप दिङ्नाग की शिष्य परंपरा के आचार्य ईश्वर सेन से उन्होंने न्यायशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन किया इस प्रकार सकल शास्त्रों में पारंगत होकर आचार्य ने अपना शेष जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार ग्रंथों के लेखन शास्त्रार्थ एवं पठन-पाठन करने में व्यतीत किया है। आइये धर्मकीर्ति के विचारदर्शन अध्ययन करते हैं।

4.2 धर्मकीर्ति का समय और कृतीत्व

प्राचीन आचार्यो का काल निर्धारण अपने आप मे एक अत्यन्त जटिल विषय है। 679 ई. के आसपास एक चीनी यात्री इ-चिङ. भारत में आये। इस पर्यटक ने धर्मकीर्ति का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है। अतः यह सुनिश्चित है कि आचार्य प्रवर (679) से पूर्व ही होंगे। इस सन्दर्भ में दूसरा साक्ष्य हमें प्राप्त होता है कि नालन्दा के प्रधान आचार्य धर्मपाल का शिष्यत्व धर्मकीर्ति को प्राप्त हुआ था तथा एक अन्य चीनी यात्री युन-च्वेङ् के समय (633 ई.) धर्मपाल के 106 वर्षीय शिष्य शीलभद्र नालंदा के प्रधान आचार्य थे इससे यह ज्ञात होता है कि धर्मकीर्ति एवं शीलभद्र एक ही गुरु के शिष्य थे और जब शीलभद्र 106 वर्ष के थे तो धर्मकीर्ति भी इस समय इतनी ही उम्र के होने चाहिए। विद्वानों का मत है कि युन च्वेङ् के नालंदा निवास से पूर्व ही धर्मकीर्ति का देहान्त हो चुका था। इस प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि आचार्य धर्मकीर्ति का काल 600ई. के समीप होना चाहिए।

धर्मकीर्ति न्याय शास्त्र के विद्वान थे। न्याय शास्त्र सभी शास्त्रों में प्रमुख माना जाता है तथा इसका बहुत बड़ा भाग प्रमाणों की चर्चा करता है। आचार्य प्रवर ने भी अपने समस्त ग्रंथ केवल बौद्ध प्रमाणशास्त्र पर लिखे हैं। इनकी कुल नौ कृतियां हैं जिनमें से सात मूल ग्रंथ

और दो स्वरचित ग्रंथों पर की गयी टीकाएँ हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं - (1) 'प्रमाण वार्तिक' (2) 'संबंध परीक्षा' (3) 'सन्तान्तर सिद्वि' (4) 'न्यायबिन्दु' (5) 'हेतुबिन्दु' (6) 'प्रमाणविनिश्चय' और (7) 'वादन्याय'

इन सात कृतियों में प्रथम तीन पद्यात्मक, चतुर्थ व पंचम गद्यात्मक तथा अंतिम दोनों रचनाएं गद्य-पद्यात्मक हैं। इसी के साथ 'प्रमाण वार्तिक' एवं 'संबंध परीक्षा' पर अत्यंत व्यवस्थित एवं सरल टीका आचार्य प्रवर के द्वारा लिखी गयी हैं।

तिब्बती भाषा में अनुवादित बौद्ध न्याय के सभी संस्कृत ग्रंथों के 175000 श्लोकों में से 137000 श्लोक धर्मकीर्ति के ग्रंथों से उद्धृत किये गये हैं। इससे और धर्मकीर्ति के ग्रंथों की महत्ता का पता चलता है।

आचार्य प्रवर के सभी ग्रंथों में प्रमाण वार्तिक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग कृत 'प्रमाण समुच्चय' नामक एक ग्रंथ पर धर्मकीर्ति ने एक बहुत विस्तृत और सरल व्याख्या लिखी। इसी व्याख्या को 'प्रमाण वार्तिक' नाम दिया गया है। प्रमाण वार्तिक को आचार्य ने चार परिच्छेदों में विभक्त किया है। पहला परिच्छेद स्वार्थानुमान, दूसरा परिच्छेद प्रमाणसिद्धि, तीसरा परिच्छेद प्रत्यक्ष प्रमाण और चौथा परिच्छेद परार्थानुमान को व्याख्यायित करता है।

दार्शनिक चिंतन जैसा कि हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि धर्मकीर्ति की सभी कृतियाँ प्रमाण शास्त्र अर्थात् न्याय शास्त्र पर ही आधारित हैं तथा इन कृतियों में ही उन्होंने अनेक गूढ़ एवं दार्शनिक विचारों का समन्वय किया है। लेखक की दार्शनिक विचारधारा इन कृतियों में यत्र-तत्र सहजतया देखने को मिलती है। वस्तुतः सातों रचनाओं में प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु चारों ग्रंथ एक ही विषय को अधिकृत करके लिखें गये हैं परन्तु विषय को सबसे अधिक स्पष्ट करने वाला ग्रंथ प्रमाणवार्तिक ही है।

आचार्य प्रवर के ग्रंथों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे सूत्र पद्धति के उपासक थे। जैसे अक्षपाद के द्वारा बतलाये गये 18 निग्रह स्थानों को आधे श्लोक में समेटते हुए आचार्य 'वादन्याय' में लिखते हैं कि

असाधनागवचनं अदोषोद्भावनं द्वयों

अर्थः - निग्रह अर्थात् पराजय के दो कारण बताए गए हैं एक कारण वाद के लिए असाधारण बात का कथन और दूसरा (2) प्रतिवादी के द्वारा किये गये वादादि के दोषो (कमियां) को न पकड़ना।

कार्य-कारणवाद दर्शन का एक प्रमुख विषय है, जिसका भावार्थ है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। इस दार्शनिक विषय का 'संबंध-परीक्षा' की 29 कारिकाओं में क्षणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण संबंध कैसे माना जा सकता है? इसका विवेचन किया गया है।

मन एक स्थिर वस्तु नहीं अपितु प्रतिक्षण नष्ट एवं नयी उत्पन्न होने वाली संतान अर्थात् घटना है और इन मन संतानों से भिन्न दूसरी अनेक मन संताने है इस विषय को सिद्ध करते हुए विश्वासवाद के आलोक में ये सब मन संताने सम्मिलित होकर इस प्रकार से दृश्य जगत् को प्रकट करती हैं इसका वर्णन सन्तान्तर सिद्धि में किया गया है।

इस प्रकार के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयों का स्पष्टीकरण आचार्य ने अत्यन्त सरल भाषा में किया है। वैसे तो सातों ग्रंथों में प्रसंगानुरूप इन विषयों का उपस्थान है परन्तु यदि कोई आचार्य का दर्शन समझना चाहे तो 'प्रमाण वार्तिक'

अत्यन्त उपादेय एवं पर्याप्त है।

4.3 तत्कालीन समाज एवं दार्शनिक परिस्थिति

धर्मकीर्ति योगाचार दार्शनिक संप्रदाय के अनुयायी थे। बसुबंधु दिङ्नाग धर्मकीर्ति जैसे महान दार्शनिकों एवं तार्किकों का शून्यवाद छोड़कर विज्ञानवाद से संबंध होना यह भी बतलाता है कि अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारों के लिए विज्ञानवाद की बहुत आवश्यकता थी। आचार्य धर्मकीर्ति शुद्ध योगाचारी न होकर सौत्रांतिक योगाचारी थे। सौत्रांतिक बाहरी जगत की सत्ता को ही मूलतत्व मानते हैं जबकि शुद्ध योगाचारी केवल विज्ञान अर्थात् चित्त या मन को मूल बताते हैं। सौत्रांतिक योगाचार का सामान्य अर्थ है कि 'सर्व क्षणिकम' अर्थात् सब क्षणिक है, कोई भी वस्तु एक ही रूप में सर्वदा नहीं रहती जैसे नदी का पानी निरंतर बहता रहता है वैसे ही बाह्य जगत की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए विज्ञान को मूल तत्व मानना। जिसका मूल कथन है कि जड़ या भौतिक तत्व विज्ञान का ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। प्राचीन योगाचार दर्शन में मूलतत्व विज्ञान अर्थात् चित्त का विश्लेषण करके दो भागों में विभक्त किया गया है -

1) आलय विज्ञान

2) प्रवृत्ति विज्ञान

शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध इन पाँचों विषयों के ग्राहक श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जब अपने-अपने विषयों के साथ संयुक्त होकर रूप, रंग, आकार आदि कल्पनाएं उत्पन्न करती हैं उसने पहले की प्रतीति तथा मन का विज्ञान ये छः 'प्रवृत्ति विज्ञान' के अंतर्गत गिने जाते हैं।

आलय विज्ञान उपरोक्त छः प्रकार के प्रवृत्ति विज्ञान के साथ समस्त प्रवृत्ति विज्ञानों का आश्रय भूत आलय अर्थात् घर है इस आलय विज्ञान में ही पूर्वतन संस्कारों की वासना और भविष्य में उत्पन्न होने वाले विज्ञानों की वासना रहती है।

आलय विज्ञान का यह सिद्धांत अपने स्थान पर ठीक है परन्तु कुछ अस्पष्टता के कारण विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिक इसे अँधेरे में तीर चलाने के समान बहुत खतरनाक समझते थे।

समाज कुछेक अंशों में दर्शन का जनक है। समाज की विविध गतिविधियाँ या क्रियाएँ मानव मस्तिष्क के अंतः में स्थित दार्शनिक विचारों को प्रेरित करती हैं। समाज दर्शन का कारण है ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतएव धर्मकीर्ति का दर्शन समझने के लिए तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर विचार करना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। 400 ई. से 600 ई. का समय भारतीय दर्शन, काव्य, ज्योतिष शिल्पकला व वास्तु कला के चरम विकास का समय था परन्तु जहाँ एक ओर काव्य कला आदि के क्षेत्रों में भारत उन्नति कर रहा था वहीं अनेकानेक सामाजिक कुरीतियाँ उस विकास को कंलकित कर रही थीं। समुद्रगुप्त, हरिशर्मा या हर्षवर्धन के समय शासकों एवं सामंतों का जनता पर पूर्ण नियंत्रण था। सेनानायक और नागरिक शासन के बड़े-बड़े अधिकारी अच्छे परिवारों का होने के कारण पहले से ही ऐश्वर्यशाली होते थे और ऊपर से वेतन, पुरस्कार व रिश्वत आदि के रूप में उनके घरों में लक्ष्मी का भण्डार बढ़ता ही चला जाता है। परन्तु युद्ध के समय अपनी छाती पर दुश्मन की गोली खाने वाले सामान्य सैनिक और जनसाधारण के घरों में अकाल पड़ा रहता था। भेदभाव व दासप्रथा आदि कुरीतियों का बोलबाला था। विषयासक्त

शासक वर्ग का इतना अधिक प्राबल्य था कि जनसामान्य का एक बहुत बड़ा भाग इनके भोग की पूर्ति में लगा रहता था। पूजा के योग्य मानी जाने वाली नारियों को इन कामासक्तों की कामवासना के शमनार्थ अपनी लज्जा बेचनी पड़ती थी। पुरुषों व स्त्रियों का किसी वस्तु की भांति दास बनकर बाजार में बिकना एक आम बात थी।

दर्शन कला आदि के विकास एवं सामाजिक पतन के इस दौर में दार्शनिकों व लेखकादि को शासक वर्ग के भय से अपनी लेखनी बेचनी पड़ती थी। नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों के दस हजार विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के लिए बड़े-बड़े दान देने वाले सामंत वर्ग के विरुद्ध भला कोई कैसे लिख सकता है। इस प्रभाव से धर्मकीर्ति भी अपने आप को नहीं बचा पाये। उनके दार्शनिक विचार भी कदाचित स्पष्ट नहीं हो पाये। जैसे दुःख के कारण को पुनर्जन्म में निहित बतलाकर तत्कालीन दासत्व आदि से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष या साकार दुःख के विषय में अपनी लेखनी को मूक बना लेना इस विचार कुंठा का ही तो परिणाम है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक पतन के उस काल में आचार्य धर्मकीर्ति ने तत्कालीन सामाजिक जीवन के प्रति तटस्थ रहना स्वीकार किया।

4.3.1 क्षणिक वाद

बौद्ध दर्शन के आधारभूत सिद्धांतों में क्षणिकवाद एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार संसार के विविध पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। एक स्थिति में न रहना ही परिवर्तन है और इसीलिए कहा गया कि सब कुछ क्षणिक है।

"सर्वं क्षणिकम् क्षणिकम्।"

यह परिवर्तन इतनी सूक्ष्मता से होता है कि व्यक्ति इसे समझ नहीं पाता। जैसे एक जलते हुए दीपक की बाती एवं तेल सतत् जलते रहते हैं परन्तु इस क्षरण को कोई भी देख नहीं पाता। धर्मकीर्ति ने इस पर और बल देते हुए इस सिद्धांत की पुष्टि की -

"सत्तामात्रानुबन्धित्वात् नाशस्य।"

सत्ता अर्थात् अस्तित्व मात्र मे नाशधर्म पाया जाता है अतः सब कुछ क्षणिक है ऐसा कहना सर्वथा उपयुक्त है। 'होना' यह शब्द ही 'न होना' को बतलाता है। जो कुछ उत्पन्न स्वभाव वाला है वह नाश स्वभाव वाला भी है। संसार में एक अपवाद होता है परन्तु इस नियम में कोई अपवाद नहीं है। यह नियम निरपवाद होकर प्रत्येक सत्तात्मक वस्तु के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है।

वैदिक साहित्य व उपनिषदादि ग्रंथों में तथा अनेकानेक दार्शनिकों के अनुसार इस परिवर्तनशील जगत् के पीछे एक अपरिणामी या अपरिवर्तनशील तत्व है उसी को परमतत्व के नाम से लक्षित किया जाता है परन्तु बौद्ध दर्शन आधुनिक-विज्ञान की भाँति ऐसे इंद्रियातीत या बुद्धि की सीमा में न समाने वाले किसी तत्व को स्वीकार नहीं करता। धर्मकीर्ति भी अपनी विचार-परंपरा का विस्तार करते हुए प्रमाण-वार्तिक में परमार्थ सत् (परमतत्व) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि जो अर्थवाली क्रिया में समर्थ है या जिसका कोई उपयोग है वहीं परमतत्व है इसके अतिरिक्त शेष सब कुछ कल्पना-मात्र है।

4.3.2 क्षणिक मीमांसा

बालक जब शिशु या अबोध होता है तब उसे जो भी बताया जाता है, वह उसे वैसे ही स्वीकार कर लेता है परन्तु जैसे-जैसे उसके बुद्धि का स्तर बढ़ता है तो वह किसी भी

कार्य के पीछे छिपे हुए 'क्यों' को जानना चाहता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है ज्ञान का स्तर कम होने पर काल्पनिक चिंतन अधिक होता है परन्तु ज्ञान का स्तर बढ़ने पर व्यक्ति प्रामाणिक चिंतन कर पाता है।

महात्मा बुद्ध ने धर्म आदि के कल्पनात्मक पक्षों को छोड़कर प्रामाणिक पक्षों पर बल दिया क्योंकि दुःख का सबसे बड़ा कारण अविद्या है और अविद्या को नष्ट करने हेतु कल्पना की नहीं अपितु प्रमाणों की आवश्यकता होती है। इसीलिए वसुबंधु, दिङ्नाग, नागार्जुन व अक्षपाद आदि बौद्ध आचार्यों ने ज्ञान की प्राप्ति के साधनभूत प्रमाणों की चर्चा पर अधिक बल दिया।

धर्मकीर्ति के सभी ग्रंथ प्रमाणों पर आधारित हैं। उनकी कृतियों में सर्वप्रमुख 'प्रमाण-वार्तिक' अत्यन्त विशदता-पूर्वक प्रमाणों की व्याख्या करता है।

आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार अज्ञात अर्थ के प्रकाशक एवं अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। 'अविसंवाद' स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का कल्पानापरक न होकर अर्थक्रिया पर स्थित होना ही अविसंवाद कहलाता है। इसीलिए किसी ज्ञान की प्रामाणिकता व्यवहार प्रयोग या अर्थक्रिया से होती है।

4.3.3 कार्य कारणवाद

कोई भी कार्य बिना कारण के संभव नहीं होता यह अत्यंत स्पष्ट तथ्य है। बौद्ध दर्शन में जिन चार आर्य सत्यों का उल्लेख मिलता है उनमें सर्वप्रथम 'दुःख' है। इसका अभिप्राय है कि सकल संसार दुःखमय है। दुःख एक कार्य रूप है तथा जरा, मरण, भव जाति, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षड़ायतन, नाम, रूप, विज्ञान, संस्कार और अविद्या इन दुःख रूपी कार्यों को जानना ही, कार्य कारणवाद है यहाँ प्रमुख बात यही है कि कार्य केवल एक कारण से नहीं अपितु अनेक कारण मिलकर किसी एक कार्य को बनाते है या उत्पन्न करते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध दार्शनिक यह प्रतिपादित करते हैं कि सृष्टि को बनाने के लिए किसी कर्तारूप ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

धर्मकीर्ति इन सभी बातों का मंडन करते हुए प्रमाण वार्तिक में लिखते हैं कि"कोई भी कार्य एक कारण से नहीं अपितु अनेक कारणों के एकत्र होने से उत्पन्न होता है। और कार्यों के गुण-कर्म-स्वभावों में जो वैविध्य देखने को मिलता है वह अचानक या अकस्मात् नहीं होता अपितु कारणों के विविध संयोजन से होता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए धर्मकीर्ति एक बहुत ही सरल उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि "यदि बिना कारणों के या किसी और माध्यम से कार्य की उत्पत्ति मानें तो कार्य के रूप कोयले को अग्नि से ही उत्पन्न कैसे कहा जायेगा।" कारण समुदाय में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ होने से वस्तु रूप कार्यों में विविध्य होता है।" एक घड़े को उत्पन्न करने के लिए मिट्टी पानी चक्का, दण्ड व कुम्हार आदि सभी कारणों की एकत्र उपस्थिति अनिवार्य है यदि इनमें से किसी एक के द्वारा घड़ा बनाना चाहे तो असंभव है। अतः एकत्रित हुई उन क्षणिक वस्तुओं में कारणवाद है, ईश्वरादि में नहीं क्योंकि ईश्वर आदि में क्षणिकता न होने से एकरसता है और एक रसता से यदि किसी वस्तु या कार्य की निर्मिति मानें तो पदार्थों में भिन्नता संभव नहीं होगी।

4.4 प्रमाणवाद

प्रमाणों की संख्या के विषय में दार्शनिक एकमत नहीं है। कोई एक प्रमाण मानता है तो कोई दो, तीन, चार या आठ। धर्मकीर्ति प्रयोग या अर्थक्रिया को ही परमतत्व की कसौटी

मानते थे अतएव उन्होंने उन्हीं प्रमाणों को स्वीकार किया जो कि पूर्वोक्त कसौटी पर खरे उतरते हों। प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण ये दो प्रमाण ही आचार्य को ग्राह्य थे। प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार वस्तु का अपना स्वरूप है और यह स्वलक्षण अर्थक्रिया में समर्थ होता है तथा अनुमान का आधार अनेक वस्तुओं में विद्यमान सामान्य लक्षण हुआ करते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण : "इन्द्रिय, मन और विषय का परस्पर संयोग होने पर कल्पना से सर्वथा रहित जो ज्ञान होता है तथा जो अज्ञात अर्थ का प्रकाशक होता है, वहीं प्रत्यक्ष है।" प्रत्यक्ष का सीधा सा अर्थ है इन्द्रिय और विषय के बीच अबाध संबंध का होना। ऐसा होने पर जो वस्तु जैसी होगी उसका वैसा ही 'यथार्थ' ज्ञान होगा वहाँ कल्पना के लिए कोई अवसर नहीं होगा। आचार्य ने इस प्रमाण के चार भेद माने हैं-

1. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष
2. मानस-प्रत्यक्ष
3. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष
4. योगी प्रत्यक्ष

इन्द्रिय प्रत्यक्ष : "सब प्रकार के विषयों के ध्यान से रहित होकर व कल्पनाओं के प्रवाह को रोककर स्थिर चित्त के साथ पुरुष रूप को देखते है यहीं इन्द्रिय प्रत्यक्ष है।" तात्पर्य यह है कि बिना किसी कल्पना के इन्द्रियों के द्वारा रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का सीधा संपर्क ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष है जब कोई व्यक्ति प्रथम बार किसी वस्तु का प्रत्यक्ष स्पर्श करता है तब उसके मन में तत्संबंधी कोई कल्पना नहीं होती परन्तु जब एक बार प्रत्यक्ष स्पर्श हो जाता है तो उसका ज्ञान विविध कल्पनाओं से जुड़ जाता है।

मानस प्रत्यक्ष : आचार्य दिङ्नाग के अनुसार "पदार्थ के प्रति राग आदि रंग ज्ञान है वही कल्पनारहित ज्ञान मानस प्रत्यक्ष कहलाता है।" इन दोनों शब्दों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रियों के द्वारा अदृष्ट विषयों का मन से प्रत्यक्ष होना परन्तु यह अनुपयुक्त है क्योंकि जैसे किसी जन्मान्ध व्यक्ति को रूप का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता है। इन सभी विषयों को विचारते हुए धर्मकीर्ति लिखते हैं कि -

"चक्षु आदि इन्द्रिय से जो विषय का ज्ञान हुआ है, उसी को अनन्तर-प्रत्यय (तुरन्त पहले गुजरा कारण) बन जो मन (चेतना) उत्पन्न हुआ है, वही मानस-प्रत्यक्ष है। चूँकि (चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञान रूप आदि ज्ञान से) भिन्न को मन प्रत्यक्ष में ग्रहण करता है। इसलिए वह ज्ञात का प्रकाशन नहीं, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले रूप आदि के विज्ञान इन्द्रिय से ज्ञात उन रूप आदिकों से संबद्ध हैं जिन्हें कि अंधे आदि नहीं देख सकते, इसलिए अंधों को देखने की बात नहीं आती।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष : चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्षीकृत रूप तथा मन से गृहीत रूप विज्ञान का ज्ञान होने के उपरान्त उस अर्थ के प्रति अपने भीतर जो राग, द्वेष आदि का अनुभव होता है वह कल्पनारहित ज्ञान स्वसंवेदन (प्रत्यक्ष) है। ऐसा आचार्य दिङ्नाग का मत है। यथा -

"अर्थरागादि स्वस्वित्तिरकल्पिका।"

आचार्य धर्मकीर्ति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि "राग (सुख) आदि के जिस स्वरूप को हम अनुभव करते हैं वह किसी दूसरे इन्द्रियादि से संबंध नहीं रखता अतः उसके स्वरूप के प्रति संकेत का प्रयोग नहीं हो सकता है और इसीलिए उसका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह वाचक शब्द से प्रकट होने लायक हीं है।" इस तरह अज्ञात

अर्थ का प्रकाशक कल्पनारहित तथा अविसंवादी होने से रागरूप में सुख आदि का जो हम अनुभव करते हैं वह इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष से भिन्न स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है।

इन्द्रियों का विषयों से संयोग होने पर ज्ञान होता है और मानस-प्रत्यक्ष उस ज्ञान को विविध अनुभवों से जोड़ देता है। जैसे कोई दृश्य जब नेत्र से संयुक्त होता है तब उस दृष्य का ज्ञान होता है, ज्ञान होने के उपरान्त वह अच्छा था या बुरा इस अनुभव को मानस प्रत्यक्ष का अंतर्गत रखा गया तथा उस दृश्य को देखकर सुख या दुःख का होना एवं सुख या दुःख के कारण उसे बार-बार देखने की या उससे बचने की इच्छा रूप राग या द्वेष का होना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है।

योगि प्रत्यक्ष : बौद्ध दर्शनकारों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के उपरोक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त योगि-प्रत्यक्ष नामक चौथे प्रकार का भी प्रतिपादन किया है धर्मकीर्ति इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि - योगियों का भावनाजन्य ज्ञान जो कि कल्पना के जाल से रहित स्पष्ट भासित होता है। वही योगि-प्रत्यक्ष कहलाता है।

कल्पना मिश्रित ज्ञान स्पष्ट रूप मे भासित नहीं होता। जैसे स्वप्न में देखा गया पदार्थ भी स्मृति में आता है परन्तु जागने के उपरान्त वह ज्ञान स्पप्नावस्थावत् स्पष्ट नहीं होता। सामान्य लोगों के द्वारा अनुभूत किया गया था साधारण व्यक्तियों का भावनाजन्य ज्ञान इसलिए प्रत्यक्ष नहीं माना जाता क्योंकि विविध विषयों में संलिप्त होने व काम, शोक, भय, उन्माद, चोर व स्वप्न आदि के कारण भ्रम में डूबे हुए व्यक्ति असत् पदार्थों को भी सामने अवस्थित की तरह देखते हैं जो कि न तो अर्थक्रिया का अनुसरण करने वाला होता है, न ही अज्ञातार्थ का प्रकाश होता है और न ही अविसंवादी होता है।

अनुमान-प्रमाण : आचार्य धर्मकीर्ति जिन दो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं, उनमें दूसरा अनुमान-प्रमाण है। किसी भी पदार्थ का ज्ञान दो प्रकार से होता है (1) इन्द्रिय के द्वारा उनका साक्षात् संबंध होने से जैसे रेलगाड़ी को प्रत्यक्ष देखकर उसका ज्ञान प्राप्त होना। (2)उस पदार्थ के किसी गुण विशेष से जो कभी उससे अलग नहीं होता। जैसे रेलगाड़ी को न देखते हुए उसकी आवाज़ को सुनकर यह अनुमान किया जाता है कि रेल आ रही है। भारतीय दर्शनकारों के द्वारा इसे समझने के लिए एक व्यापक उदाहरण है जिसका प्रयोग किया जाता है -

"यत्र-तत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः।"

अर्थात जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्यमेव होगी। किसी ने रसोईघर में अग्नि को जलते देखा जहाँ अग्नि के साथ धुआँ भी उठ रहा था। एक बार उसने पर्वत पर धुआँ उठते हुए देखा और यह जान लिया कि धुआँ अग्नि का लक्षण (लिंग) है अतः पर्वत पर अग्नि है। यह अनुमतिकरण ही अनुमान कहलाता है।

धर्मकीर्ति का मानना है कि पदार्थ को जानने के दो ही साधन हैं एक उसका स्वरूप और दूसरा पर-रूप अतः प्रमाण दो ही होते हैं एक प्रत्यक्ष प्रमाण और दूसरा अनुमान प्रमाण। अनुमान प्रमाण को स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रश्नोत्तर पूर्वक समझाते हैं कि -"जो स्वरूप से अनुमित ज्ञान होता है वह जैसी वस्तुस्थिति है उसके अनुसार नहीं लिया जाता इसलिए यह तो भ्रांति ज्ञान है। पर-रूप से ज्ञान होना भी भ्रांति ज्ञान ही है और भ्रांति को प्रमाण नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अविसंवादी नहीं होगा। इस शंका का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि -"भ्रान्ति को भी प्रमाण माना जा सकता है यदि उस ज्ञान का अभिप्राय जिस अर्थ से है उससे विरुद्ध न जाये क्योंकि दूसरे रूप से पाया गया ज्ञान भी अभिप्रेत अर्थ का संवादी देखा जाता है।"

हेतु धर्म - अनुमान प्रमाण के संदर्भ में 'हेतु' को समझना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि बिना हेतु को जाने अनुमान करना दुष्कर है। पदार्थ के जिस धर्म या लक्षण को देखकर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है, वही 'धम' या 'लक्षण' हेतु पदवाच्य है। हेतु के तीन प्रकार होते हैं - (क) कार्य हेतु (ख) स्वभाव हेतु (ग) अनुपलब्धि हेतु।

क) **कार्य हेतु** - जहाँ पर कार्य से कारण का अनुमान किया जाये वह कार्य हेतु कहलाता है। जैसे - 'पर्वतो वह् निमान्' अर्थात् पहाड़ पर आग है धुआँ होने से। धुआँ अग्नि का कार्य है और धुएँ को देखकर ही अग्नि रूप कारण का अंनुमान किया जा रहा है। अतः यह कार्य हेतु है।

ख) **स्वभाव हेतु** - जब किसी पदार्थ के स्वभाव या स्वरूप के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है तब वहाँ 'स्वभाव हेतु' का प्रयोग होता है। जैसे -"सामने स्थित यह वस्तु वृक्ष है, शीशम होने से।" वृक्ष सारे शीशमों का स्वभाव है, जो शीशम होगा वह वृक्ष अवश्यमेव होगा। इस स्वभाव रूप लक्षण के कारण इसका अनुमान किया जा रहा है अतः यह स्वभाव हेतु कहलाता है।

ग) **अनुपलब्धि हेतु** - जब कोई वस्तु उपलब्धि योग्य स्वरूप वाली अर्थात् देखने योग्य होने पर भी अभावादि के कारण से अनुपलब्ध हो या उसका ज्ञान न हो तब वहाँ अनुपलब्धि हेतु का प्रयोग माना जायेगा। जैसे 'वृक्ष पर पक्षी नहीं है।' पक्षी एक ऐसी वस्तु है जो कि होने पर दिखायी देगी। अब उसके दिखाई न देने या उपलब्धि न होने का सीधा सा अर्थ है कि पक्षी पेड़ पर नहीं है। उसका न होना यहाँ अनुपलब्धि का कारण है।

4.5 प्रत्यक्ष प्रमाण के तत्व

परमत खंडन

किसी भी नये दार्शनिक के उभरने का अर्थ है कि वह अपने से पूर्व प्रचलित मान्यताओं से पूर्णतः सहमत नहीं है। उनसे असहमति के कारण ही वह एक नयी विचार परंपरा को जन्म देता है। बुद्ध का जीवन इस बात का पूर्ण रूप से प्रमाणित करता है। आचार्य धर्मकीर्ति एक बौद्ध दार्शनिक थे अतः उन्होंने अपने प्रमाण-वार्तिक आदि ग्रंथों के विविध सन्दर्भों में बौद्ध मत का मण्डन तथा इतर मतों के प्रचलित सिद्धांतों का खण्डन किया है। मण्डनात्मक भागों का स्पर्श हम पूर्व में कर चुके हैं? अब खण्डनात्मक पक्ष पर थोड़ा दृष्टिपात करते हैं। यह खण्डनात्मक पक्ष आचार्य के गाम्भीर्य, विषयविश्लेषण, व तार्किकता आदि का द्योतक है।

1) नित्यवाद का खंडन

विश्व के सकल दार्शनिक नित्यवाद को स्वीकार करते हैं। भारतीय आस्तिक दर्शन ही नहीं अपितु नास्तिक कहलाने वाले जैन और चार्वाक भी नित्यवाद का समर्थन करते हुए दिखलायी देते हैं। यह अलग विषय है कि वो नित्य किसे मानते हैं? प्रसंग भेद होने से इसकी चर्चा को छोड़ हम अपने विषय पर आते हैं। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद अर्थात् अनित्यवाद का प्रबल समर्थक एवं पक्षपाती है जिससे यह सुस्पष्ट है कि यह नित्यवाद का विरोधी है। दिङ्नागकी यह स्पष्ट घोषणा थी कि -

'कारणं विकृतिं गच्छज्जायतेऽन्यसय कारणम्' अर्थात् कारण स्वयं विकार को प्राप्त होकर ही किसी अन्य वस्तु का कारण बन सकता है। आचार्य धर्मकीर्ति भी इस बात का पूर्ण समर्थन करते हुए लिखते हैं कि -"जिसके होने के बाद जिस वस्तु का जन्म होता है या

जिसके विकारयुक्त होने पर दूसरी वस्तु में विकार होता है, उसे उस पीछे वाली वस्तु का कारण कहते हैं।" आचार्य के कथन का यही आशय है कि पूर्व स्थित किसी वस्तु में जब कोई विकार होता है तब दूसरी वस्तु का निर्माण होता है। जैसे एक घड़े को बनाने के लिए मिट्टी में विकार होना अत्यावश्यक है तथा जो वस्तु विकृत होती है वह नित्य कभी नहीं हो सकती।

2) आत्मा की सत्ता का खंडन

भारतीय दर्शन में चार्वाक एवं बौद्ध को छोड़कर सभी दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकारते हैं और साथ ही उसे नित्य एवं चेतन पदार्थ भी मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक आत्मा की सत्ता को नहीं मानते अतः उन्हें अनात्मवादी कहा जाता है। आत्मा के कार्यों को पूरा करने के लिए ही विज्ञानवाद की कल्पना की गया जो कि प्रवाह के समान एक से दूसरे में जुड़ता रहता है। आत्मा की सत्ता को मानने वालों का एक बहुत बड़ा और सबल पक्ष है पुनर्जन्म। यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तथा वह नित्य भी न हो तो बन्ध अर्थात् जन्म-मरण में पड़कर दुःख भोगना और मोक्ष अर्थात् सर्व प्रकार के दुःखों से छूटकर परमानन्द को प्राप्त होना संभव नहीं हो सकेगा। इस प्रश्न की उत्पत्ति होने पर आचार्य कहते हैं कि - "दुःख की उत्पत्ति का कारण कर्म रूपी बंध है किन्तु जो नित्य है वह निष्क्रिय है इसलिए वह ऐसा कारण कैसे हो सकता है, दुःख की उत्पत्ति न होने में कारण कर्म से उत्पन्न बंध से मोक्ष मुक्त होना है। जो नित्य है वह ऐसा कारण कैसे हो सकता है? वस्तुतः अनित्य या क्षणिक नहीं कहा जा सकता, वह किसी चीज़ का कारण नहीं हो सकता। नित्य उस स्वरूप को कहते हैं जो कि नष्ट नहीं होता। इस लज्जाजनक दृष्टि-नित्यता के सिद्धांत को छोड़कर उस आत्मा को अनित्य कहो।"

धर्मकीर्ति का विचार है कि नित्य आत्मा का मानना ही सभी बुराइयों की जड़ है क्योंकि इससे 'मैं' अर्थात् 'अहं' की भावना का विकास होता है। जब तक आत्मा संबंधी प्रेम नहीं छूटता, तब तक पुरुष अपने को दुःखी मानता रहेगा और स्वस्थ अर्थात् चिन्ता रहित नहीं हो सकेगा। यद्यपि कोई अपने को मुक्त करने वाला नहीं है तो भी 'मैं' व 'मेरा' जैसे झूठे ख्याल या आरोप को हटाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

"यह क्षणिक मन, शरीर प्रवाह से भिन्न आत्मा का ख्याल है जिससे उससे विपरीत स्वभाव अर्थात् वस्तु की स्थिरता आदि में राग उत्पन्न होता है।"

"आत्मा का विचार केवल मोह है और वही सारी बुराइयों की जड़ है।"

आचार्य के अनुसार धार्मिक व्यक्तियों के लिए भी आत्मवाद बुरा ही है क्योंकि आत्मवाद से 'मैं' की भावना पुष्ट होती है और जहाँ 'मैं' की भावना होगी वहाँ अपने ही सुख की चिन्ता होगी तथा जहाँ पर अपने लिए सुख प्राप्ति की चेष्टा होगी तो अनेक अनुचित कार्यों के होने की संभावना भी होगी जो कि व्यक्ति का स्तर घटाती हैं।

इस प्रकार नित्य आत्मा तर्क आदियों से सिद्ध नहीं हो सकता और धर्म, परलोक व मुक्ति में भी उसके मानने से बाधा ही होती है।

3. अनीश्वरवाद

इस संसार में आदिकाल से आस्तिक व नास्तिक का झगड़ा चला आ रहा है। आस्तिक समूह की मान्यता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, अविकारी परमेश्वर ही इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता है। परन्तु महात्मा बुद्ध ने ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है। उनके अनुसार यह संसार प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से संचालित होता है। सारा विश्व उत्पत्ति एवं विनाश के नियम से शासित है, विश्व परिवर्तनशील एवं अनित्य है। अतः ईश्वर को विश्व का स्रष्टा

मानना हास्यास्पद है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने ईश्वर के खंडन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। जैसे जिन कारणों के होने पर ही जो कार्य होता है उन कारणों से अन्य को उस कार्य का कारण मानने पर सर्वत्र कारणों की समाप्ति ही नहीं होगी अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है जगतरूप कार्य कारण ईश्वर है। तब यहाँ प्रश्न होगा कि ईश्वर का कारण क्या है?

दूसरा तर्क प्रस्तुत करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - कारण वही होता है, जिसके स्वरूप में कार्य उत्पादन के समय परिवर्तन होता है। भूमि आदि अंकुर पैदा करने के कारण अपना स्वरूप परिवर्तित करते हुए अंकुर पैदा होते हैं क्योंकि भूमि आदि के संस्कार से अंकुर में विशेषता देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर अपने स्वरूप में परिवर्तन किये बिना कारण नहीं बन सकता और स्वरूप परिवर्तन करने पर वह नित्य नहीं रह सकता।

आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'यदि एक जगह पीले रंग का धुआँ देखकर आग का अनुमान कर लिय तो जब भी पीला रंग देखे उसे आग नहीं मान सकते। यदि कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाया है तो क्या हम यह कहे कि दीपकों के टीले को भी कुम्हार ने ही बनाया है?'

इस प्रकार अनेक युक्तियों से आचार्य ईश्वरवाद का खंडन करते हैं।

4. न्याय वैशेषिक खंडन

न्याय और वैशेषिक दर्शन में संसार को बाहर से परिवर्तनशील मानते हुए बाहरी परिवर्तन के अन्दर नित्य, एक रस चेतन और जड़ मूल तत्वों को सिद्ध करने की कोशिश की गई है। बौद्ध दर्शन क्षणिकता के अटल व सर्वव्यापी नियम को स्वीकारते हुए किसी 'स्थिरता-साधक सिद्धांत' को मानने के लिए तैयार नहीं है। अतएव 'प्रमाण वार्तिक' के अनेक प्रकरणों में न्याय-वैशेषिक प्रतिपादित सिद्धांतों का धर्मकीर्ति ने प्रबल खंडन किया है।

वैशेषिक ने स्थिरवादी सिद्धांत के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों को स्वीकृत किया गया है। इनमें से 'कर्म' और 'विशेष' को छोड़कर शेष चारों को कल्पना पर निर्भर व्यवहारगत के तौर पर ही मान सकते हैं।

5. सांख्य खंडन

सांख्य दर्शन दो प्रकार के तत्वों को मानता है- 1) चेतन स्वरूप पुरुष और 2) जड़ तत्व के रूप में त्रिगुणात्मक प्रकृति। सांख्य का मत है कि पुरुष निष्क्रिय व साक्षी मात्र है और प्रधान या प्रकृति पुरुष के संयोग से समस्त कार्यरूप जगत् का निर्माण करती है। सांख्य का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है 'सत्कार्यवाद' अर्थात् कार्य में पहले से ही कारण विद्यमान है।

धर्मकीर्ति कहते हैं कि - "अनेक बीज, पानी, मिट्टी आदि एक प्रधान अर्थात् प्रकृति स्वरूप होते हैं, एक कार्यरूप अंकुर को करते हैं। तो वही स्वरूप (प्रधान) एक बीज में वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह, इसलिए दूसरे सहकारी कारण पानी मिट्टी आदि व्यर्थ हैं।

"परमार्थ वाला पदार्थ वही है जो कि अर्थक्रिया को कर सकता है। ऐसे अर्थक्रिया करने वाले हैं मिट्टी, पानी आदि विशेष और वह परस्पर भिन्न होने से कार्यरूप अंकुर में एक रूप नहीं होते और जिसे तुम एक रूप होता कहते हो उस प्रधान से अंकुर रूप कार्य का सम्भव नहीं क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार वह तो जैसा अपने स्वरूप में हैं, वैसा ही मिट्टी आदि बनने पर भी है।"

सांख्य के सत्कार्यवादादि सिद्धांतों का प्रबल खंडन इसी प्रकार धर्मकीर्ति ने किया है।

6. मीमांसा खंडन

मीमांसा के अनेक प्रमुख सिद्धांतों में शब्द प्रमाण की कल्पना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। धर्मकीर्ति ने मीमांसा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञा, शब्द प्रमाण, अपौरुषेयता आदि अनेक सिद्धांतों का खंडन किया है। शब्द प्रमाण का खंडन करते हुए वे लिखते हैं कि "जो अर्थ प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध हैं उनकी सिद्धि में वेद को त्याग देने से कोई हानि नहीं और जो परोक्ष अर्थात् इन्द्रिय अगोचर पदार्थ हैं, वह अभी साबित ही नहीं हो सके हैं। अतः उनमें वेद का उपयोग ठीक नहीं हो सकता। इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनों बातों में वेद या शब्द प्रमाण की गुंजाइश नहीं है।"

वेद की एक बात सत्य होने से उसकी सभी बातें सत्य होंगी ऐसा मानना बिल्कुल अनुपयुक्त है इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि -

"यदि इस तरह एक बात की सच्चाई से प्रमाण सिद्ध होता तो फिर संसार में अप्रमाण कुछ भी नहीं। क्योंकि बहुभाषी व्यक्ति भी अनेक सत्य बातें करता है।"

7. अनेकान्तवाद खंडन

जैन दर्शन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध सिद्धांत हैं अनेकान्तवाद, जिसके अनुसार घड़ा घड़ा भी है तथा कपड़ा भी उसी तरह कपड़ा कपड़ा भी और घड़ा भी। इस असंभव विचार पर आचार्य आक्षेप करते हौ कि -"यदि सभी वस्तुओं के दो रूप हैं तो दही दही ही है ऊँट नहीं अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं इस तरह दही में उसकी विशेषता को इंकार करने से किसी को दही खा ऐसा कहने पर वह ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं भागता? "

इसलिए सभी वस्तुओं में अपने-अपने विशेष गुण होने से कोई वस्तु दो रूपों में नहीं हो सकती।

खंडन करने में कुशल अपने दीर्घ खड्ग से आचार्य ने पूर्व प्रचलित अनेक मतों का खंडन किया है। वे लिखते हैं कि /-

वेदप्रामाण्यं कास्चिद् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिग्डानि जाड्ये।।

अर्थात् वेद की प्रमाणता, किसी ईश्वर का कर्ता होना, स्नान से धर्म की इच्छा रखना, जातिवाद का घमंड और पाप दूर करने के लिए शरीर को उपवासादि के माध्यम से संताप देना ये पाँच लक्षण अकल-मारे लोगों के हैं।

4.6 आत्मवाद

महात्मा बुद्ध की अवधारण थी - "विश्व में न कोई आत्मा है और आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के आधारस्वरूप मन और मन की वेदनायें ये सब आत्मा या आत्मा के समान किसी वस्तु से सर्वथा शून्य है।"

अधिकतर भारतीय आत्मा की स्थायी सत्ता को स्वीकार करते हैं परन्तु बौद्ध दर्शनकार अन्य वस्तुओं की परिवर्तनशीलता की तरह आत्मा को भी परिर्वनशील मानते हैं। अब प्रश्न उठता है कि फिर यह शरीर कैसे कार्य करता है? बौद्धों के अनुसार आत्मा के स्थान पर चित्त, मन और विज्ञान हैं। मन शरीर नहीं है किन्तु धर्मकीर्ति के वचन के अनुसार 'मन

काया के आश्रित है।' मन और शरीर इन दोनों में अन्योन्याश्रित संबंध या अन्योन्य हेतुक संबंध है। मन व शरीर का एक दूसरे पर आश्रित होना। अविनाभाव संबंध को भी सिद्ध करता है।

ये सब संबंध सिद्ध करते हैं कि मन शरीर से बिल्कुल अलग तत्व नहीं है, वह शरीर का ही एक अंश है। मन और शरीर दोनों एक प्रकार के भौतिक तत्व से विकसित हैं अतः तत्व की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है - भूत से ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। यह भूत-चैतन्यवाद का सिद्धांत धर्मकीर्ति को अमान्य प्रतीत होता है। क्योंकि उन्होंने कहा कि - प्राण, अपान, इन्द्रियाँ और बुद्धि या मन की उत्पत्ति अपने से समानता रखने वाले (सजातीय) पूर्व के कारण बिना केवल शरीर से ही नहीं होती। यदि इस प्रकार की उत्पत्ति होती तो प्राण, अपान, इन्द्रिय, बुद्धि वाले शरीर से उत्पन्न होने का नियम न रहता और किसी भी भूत से यह प्राणवान आदि से संयुक्त शरीर उत्पन्न होता।

आचार्य का मन्तव्य है कि विश्व की सभी वस्तुएं बीजात्मक हैं। यहाँ शंका होती है कि कहीं-कहीं जीवन बीज के बिना भी जीवन की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे कि वर्षा में अनेक कीट-पंतग उत्पन्न हो जाते हैं। इसका समाधान देते हुए आचार्य लिखते है कि"पृथ्वी का ऐसा कोई भाग नहीं है जहाँ स्वेदन जन्तु न पैदा होते हों, इससे ज्ञात होता है कि सब भूत से उत्पन्न होती दिखायी देने वाली वस्तुएं बीजात्मक हैं। मन का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि" मन स्वभाव से निर्विकार है उसमें पाए जाने वाले मल आकाश में अन्धकार कुहरा आदि की भांति अपने से भिन्न हैं।

4.7 विज्ञानवाद

बौद्ध दार्शनिक असंग और वसुबन्धु विज्ञानवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। इस परंपरा को जीवित रखने में जिन आचार्यों का प्रयत्न है उनमें धर्मकीर्ति महत्वपूर्ण है। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही सत्य है। धर्मकीर्ति बाह्य जगत् अर्थात् भौतिक तत्वों को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान को वास्तविक तत्व सिद्ध करते हैं। आचार्य विज्ञान को ही एकमात्र तत्व बतलाते हुए अपने प्रमाण वार्तिक के तीसरे अध्याय में लिखते हैं कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो नीला, पीला, काला, श्वेतादि रंग एंव लंबाई, मोटाई, भारी हल्कापन या चिकनापन आदि के बिना केवल भौतिक तत्व का ही दर्शन नहीं होता अपितु रंगादि के कारण ही दर्शन संभव है। इनके बिना तो किसी भी प्रमाण से वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

आचार्य के अनुसार नीले रंग तथा नीले रंग के ज्ञान का वस्तुतः कोई अलग अस्तित्व नहीं है, दोनों एक हैं। वे भ्रमवशात् दो प्रतीत होते हैं। जैसे दृष्टिकोण के कारण कोई व्यक्ति दो चंद्रमा देखता, वैसी अवस्था में चन्द्रमा का दो होना प्रमाणित नहीं हो जाता। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में बाहर घटित होने वाली घटनाएं वस्तुतः बाहर नहीं होती अपितु मन के अंदर ही होती है, उसी प्रकार साधारण मानसिक अवस्था में बाहर मालूम होने वाला पदार्थ मन में ही रहता है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।

विज्ञान का भीतरी आकार चित्त सुख आदि का ग्राहक है किन्तु जो बाहरी पदार्थ अर्थात् भौतिक तत्व, कपड़ा, घड़ा आदि है वह भी विज्ञान से अलग नहीं बल्कि विज्ञान का ही दूसरा भाग है और बाहर में अवस्थित सा प्रतीत होता है।

विज्ञान के दो भेदों का पूर्व में उल्लेख कर आये हैं जो कि प्रवृत्ति विज्ञान व आलय विज्ञान के रूप् में हैं। प्रवृत्ति विज्ञान के सात भेद हैं चक्षु विज्ञान, श्रौत विज्ञान, धारण-विज्ञान, रसना विज्ञान, काय विज्ञान, मनोविज्ञान तथा विशिष्ट मनोविज्ञान। प्रथम पाँच विज्ञानों से वस्तु

का ज्ञान होता है, मनोविज्ञान से उस पर विचार किया जाता है, विशिष्ट मनोविज्ञान से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन सबका संयोजन करने वाला चित्त है, जिसे आलय 'विज्ञान' कहा जाता है।

यह आलय विज्ञान विभिन्न विज्ञानों का आलय अर्थात् घर है। प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञान पर अवलम्बित है। सभी ज्ञान बीज रूप में यहाँ एकत्रित रहते है । साधारणतः आलय-विज्ञान का अर्थ है परिवर्तनशील चेतना का प्रवाह।

4.8 सारांश

न्याय शास्त्र के विद्वानों में प्रमुख माने गए धर्मकीर्ति के 'प्रमाण वार्तिक' ग्रंथ को दिड़नाग के 'प्रमाण–समुच्चय' की एक स्वतंत्र व्याख्या माना जाता है लेकिन मूल रूप से इनमें अंतर है। उनके शिष्य देवेन्द्रबुद्धि ने ग्रंथकार की वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छेद को छोड़कर प्रमाण वार्तिक को दो भागों में कर दिया। राहुल सांकृत्यायन ने धर्मकीर्ति के प्रमाण–वार्तिक के परिच्छेदों का चुनाव प्रज्ञाकर गुप्त के भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धि की पंजिका वाले परिच्छेदों से ही किया है। धर्मकीर्ति जैसे महान तार्किकों का शून्यवाद छोड़ विज्ञानवाद से संबंध होना यह दर्शाता है कि 'हेगेल' की तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारों की प्रस्तुति के लिए विज्ञानवाद का सहारा लेना जरूरी महसूस हुआ। लेकिन जो हेगेल (जर्मनी) ने अठारहवीं सदी में विज्ञानवाद के तर्क पर आधारित भौतिक जगत् की वास्तविकता का सिद्धांत प्रस्तुत किया था वही धर्मकीर्ति छठी सदी ईसवी के भारत में इस सिद्धांत का प्रतिपादन करने में सफल हुए थे। वैदिकों के अतार्कीक अवैज्ञानिक स्थापनाओं को उन्होंने जड़ से उखाड़ फेंका था। रहस्यवाद तथा नित्यता के सिद्धांत के आधार पर ईश्वरीय सत्ता और धर्म के आडंबर से मानव समूह के जीवन में तमाम उत्पीड़न, गुलामी की त्रासदी आर्थिक अभाव और अंधविश्वासी अंधःकार भरने वाले वेदांती तर्कों का खण्डन करने में धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध दार्शनिकों का अमूल्य योगदान रहा है।

खंड के प्रश्न

1) ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत की स्थिति पर प्रकाश डालें।
2) बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3) महाकवि अश्वघोष की जीवनी एवं स्थितिकाल को निरूपित करें।
4) अश्वघोष की महत्त्वपूर्ण कृतियों पर प्रकाश डालें।
5) व्यक्तित्व के धनी दार्शनिक कवि के रूप में अश्वघोष को चित्रित करें।
6) अश्वघोष की कृतियों की भाषा-शैली, वस्तु-योजना तथा प्रकृति-चित्रण पर प्रकाश डालें।
7) धर्मकीर्ति के क्षणिकवाद के सिद्धांत का निरूपण करें।
8) प्रमाण सिद्धांत पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
9) बुद्ध दर्शन में अनात्मवाद के सिद्धांत के महत्व पर प्रकाश डालें
10) आर्य दिङ्नाग के प्रमाण–समुच्चय सिद्धांत पर संक्षिप्त में टिप्पणी लिखें।
11) आर्य नागार्जुन के प्रतीत्य समुत्पाद का महत्व विशद कीजिए।
12) आर्य असंग के रचनात्मक योगदान की चर्चा कीजिए।
13) आर्य वसुबंधु की रचनाओं पर संक्षिप्त में टिप्पणी लिखें।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

पांच बौद्ध दार्शनिक : राहुल सांस्कृत्यायन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

बौद्ध धम्म दर्शन : आचार्य नरेनुदेन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

बौद्ध दर्शन : बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, काशी।

जातक माला एक अध्ययन : डॉ. कमलाकान्त मिश्र, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद।

बुद्ध धर्म के उपदेश : भिक्षु-धर्म रक्षित, अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना।

बौद्ध संस्कृति : राहुल सांकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता।

अब्राह्मणी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र : शरद पाटील, सुगावा प्रकाशन, पुणे।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

SOH-IGNOU/P.O. 5T/May, 2014

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ISBN : 978-81-266-6664-5